अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष
कुलपति
उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय, हल्द्वानी
1.प्रो0 अरविंद के जोशी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)
2.प्रो0 बी.मोहन कुमार, जी.बी.पंत कृषि व प्रोद्योगिकी विष्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड

संयोजक
निदेषक समाज विज्ञान विद्याशाखा

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन

1. डा0 प्रियंका रुबाली, समाजशास्त्र विभाग,कुमाउं विश्वविद्यालय,नैनीताल (उत्तराखंड)
2. डॉ0 कमलेश महाजन
3. डा0 धर्मवीर महाजन
4. डॉ0 योगेश चंद्रा, राजकीय महाविद्यालय,मानिला ,उत्तराखंड

संपादन

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय, हल्द्वानी

कापीराइट @ उत्त/राखण्ड मुक्त विश्वkविद्यालय

प्रकाशन वर्ष- 2020

प्रकाशन- उत्त राखण्ड मुक्तe विश्व विद्यालय हल्द्वा नी 263139

सर्वाधिक सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

हल्द्वानी **MASO-501**

समाजशास्त्र का परिचय- I

INTRODUCTION TO SOCIOLOGY- I

Block 1	**Introduction Sociology** **समाजशास्त्र का परिचय**	
Unit 1.	Origin & Development of Sociology समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास	पृष्ठ–01–20
Unit 2.	Sociology: Nature & Scope **समाजषास्त्रः प्रकृति और क्षेत्र**	पृष्ठ–21–37
Unit 3.	Sociology & Other Social Sciences: Social Anthropology, History, Political Science & Economics समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान– मानवशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र	पृष्ठ–38–50
Block II	**Basic Sociological Concepts** **मूल्य सामाजिक अवधारणा**	
Unit 4.	Society: Concept, Nature & Types समाज : अवधारणा, प्रकृति एवं प्रकार	पृष्ठ–51–68
Unit 5.	Social Structure: Role, Status, Norms & Values **सामाजिक संरचना : भूमिका, प्रस्थिति, आदर्श एवं मूल्य**	पृष्ठ–69–102
Unit 6.	Community and Association **समुदाय एवं समिति**	पृष्ठ–103–119
Unit 7.	Social Groups: Characteristics & Types **सामाजिक समूह : विशेषताएँ एवं प्रकार**	पृष्ठ–120–139
Unit 8.	Culture: Meaning, Forms & Characteristics संस्कृति: अर्थ,प्रकार और विशेषताये	पृष्ठ–140–155

इकाई- 1 समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास
(Origin & Development of Sociology)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
1.3 समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास
1.3.1 समाजशास्त्र के विकास की प्रथम अवस्था
1.3.2 समाजशास्त्र के विकास की दूसरी अवस्था
1.3.3 समाजशास्त्र के विकास की तीसरी अवस्था
1.3.4 समाजशास्त्र के विकास की चतुर्थ अवस्था
1.4 भारत में समाजशास्त्र का उद्भव तथा विकास
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर
1.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा–

- समाजशास्त्र के अर्थ को समझना।
- प्राचीन काल में विभिन्न विचारकों के विचारों एवं ग्रन्थों में समाजशास्त्र की उत्पत्ति को समझना।
- आरम्भ में विभिन्न देशों में समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास किस तरह से हुआ इसे समझना।
- उन्नीसवीं शताब्दी में किस प्रकार से समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में उभर कर आया एवं विश्व के अनेक देशों में विकसित होने लगा इसे जानना।
- आधुनिक समय में किस प्रकार से समाजशास्त्र का विकास हो रहा है इसे जानना।
- भारत में किस प्रकार से समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास हुआ है इसे समझना।

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई के प्रथम खण्ड में समाजशास्त्र क्या है एवं विभिन्न विद्वानों ने इसे कैसे परिभाषित किया है इसकी चर्चा की गई है इसके पश्चात् आप जानेंगे कि किस प्रकार से एक नया विज्ञान होने के बाद भी समाजशास्त्र हजारों सदियों पहले से ही विभिन्न दार्शनिकों, धर्मशास्त्रियों तथा विचारकों के विचारों में उत्पन्न हो चुका था। इस सम्बन्ध में **बीयरस्टेड** भी कहते हैं कि समाजशास्त्र की विषय वस्तु बहुत पुरानी है। **टी.बी. बॉटमोर** ने समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास की प्रमुख अवस्थाओं की चर्चा की है। प्रथम अवस्था में वे प्राचनी यूनानी विचारकों **प्लेटो** एवं **अरस्तू** के विचारेां को रखते हैं जो अपनी पुस्तकों में उस समय के सामाजिक जीवन के

अनेक पक्षों जैसे पारिवारिक जीवन, रीति रिवाज, स्त्रियों की स्थिति तथा तत्कालीन समाज की समस्याओं का उल्लेख करते है। दूसरी अवस्था में वे छठी से चौदहवीं शताब्दी की चर्चा करते हैं जिस समय सामाजिक जीवन की व्याख्या दार्शनिक तथा धार्मिक रूप से की जाती थी। इस युग में **सेंट अक्यूनॉस** तथा **दांते** प्रमुख विचारक रहे जिन्होंने मानव को एक सामाजिक प्राणी माना साथ ही यह भी माना कि समाज स्थिर नहीं है बल्कि परिवर्तनशील है इस युग में अनेक विद्वानों के विचार दर्शनिक तथा धार्मिक के स्थान पर तार्किक भी होने लगे थे। समाजशास्त्र के विकास की तीसरी अवस्था में सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों की व्याख्या की गई। चतुर्थ अवस्था में समाजशास्त्र की विज्ञान के रूप में उत्पत्ति हुई। यद्यपि समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भिक युग में विकसित हुआ है। इस प्रकार से भारत में भी सदियों पहले के विभिन्न ग्रन्थों में हमें तत्कालीन सामाजिक जीवन के बारे में जानने को मिलता है किन्तु औपचारिक रूप से 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक विषय के रूप में समाजशास्त्र का अध्ययन–अध्यापन शुरू किया गया। प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे किस प्रकार से प्राचीन कृतियों से वर्तमान समय तक समाजशास्त्र का अलग–अलग अवस्थाओं में उद्भव एवं विकास हुआ है।

1.2 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

जैसा कि आप जानते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो सदियों से समाज में ही रहता आया है। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते समाजिक घटनाओं के मनुष्य में हमेशा से ही उत्सुकता बनी रही है। वह हमेशा से समाज को जिसमें वह निवास करता है जानना एंव समझना चाहता रहा है। समाज को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास 'समाजशास्त्र' द्वारा किया जाता है जोकि एक नया सामाजिक विज्ञान है। एक अलग विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का अध्ययन सबसे पहले फ्रांसिसी विचारक **आगस्ट कोंत** द्वारा अपनी प्रमुख कृति **''पॉजिटिव फिलॉसफी''** में **1838** ई. में किया गया। इसीलिए **ऑगस्त कोंत** को 'समाजशास्त्र का जनक' कहा जाता है। कोंत तथा उस समय के अन्य विद्वान मानते थे कि समाज में जितनी बुराईयां है उनका कारण समाज के बारे में सही–सही ज्ञान का न होना है। इन विद्वानों का यह मानना था कि एक अच्छे समाज का विकास तभी हो सकता है जब समाज के बारे में वैज्ञानिक विधि से ज्ञान प्राप्त किया जाए जैसा कि उस समय प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा किया जा रहा था। ऑगस्त कोंत ने आरम्भ में इस विज्ञान का नाम **''सोशल फिजिक्स''** रखा किन्तु बाद मे उन्होंने इस विज्ञान को **''सोशियोलॉजी''** नाम दिया। शाब्दिक रूप से समाजशास्त्र दो शब्दों से मिलकर बना है। पहला शब्द 'सोशियल' लैटिन भाषा से तथा दूसरा शब्द ''लोगस'' ग्रीक भाषा से लिया गया है। 'सोशियस' का अर्थ है समाज तथा 'लोगस' का शास्त्र। अतः समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ है– समाज का शास्त्र अथवा समाज का विज्ञान। कोंत पहले सव्माजशास्त्री थे जिन्होंने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए कहा, ''समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था और प्रगति का विज्ञान है।'' अलग–अलग विद्वानों द्वारा समाजशास्त्र को अलग–अलग प्रकार से परिभाषित किया गया है।

गिडिंग्स, वार्ड, ओडम तथा **समनर** आदि विद्वान यह मानते हैं कि समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज को एक इकाई मानकर समग्र रूप से इसका अध्ययन करता है।

गिडिंग्स के अनुसार, ''समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।'' **वार्ड** के अनुसार ''समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।'' **मैकाइवर** तथा **पेज, क्यूबर, वॉन विज** आदि विद्वान समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित अध्ययन करने वाला विज्ञान मानते है।

मैकाइवर तथा **पेज** के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है। सम्बन्धों के इसी जाल को हम समाज कहते हैं।'' **वॉन विज** के अनुसार, ''सामाजिक सम्बन्ध ही समाजशास्त्र की विषय वस्तु का एकमात्र आधार है।''

गिन्सबर्ग, सिमेल, हॉब्हाउस तथा ग्रीन आदि समाजशास्त्रियों ने सामाजिक सम्बन्धों की अपेक्षा सामाजिक अन्तर्क्रियाओं को अधिक महत्वपूर्ण माना है। इनके अनुसार सामाजिक सम्बन्धों की संख्या इतनी अधिक होती है कि उनका व्यवस्थित अध्ययन करना कठिन होता है। अतः यदि हमें समाजशास्त्र की प्रकृति को स्पष्ट रूप से समझना है तो हमें समाजशास्त्र को ''सामाजिक अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान'' के रूप में परिभाषित करना होगा।

हेनरी जॉन्सन के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का अध्ययन है। जान्सन का मानना है कि समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक समूहों के संगठन, ढ़ाँचे तथा इन्हें बनाने वाले और इनमें परिवर्तन लाने वाले प्रक्रियाओं तथा समूहों के पारस्पिरिक सम्बन्धों का अध्ययन है। जर्मन विचारक **मैक्स वेबर** के अनुसार सामाजिक सम्बन्धों को केवल सामाजिक अन्तर्क्रियाओं के आधार पर ही समझना पर्याप्त नहीं हैं। चूंकि समाजशास्त्र अन्तर्क्रियाओं का निर्माण सामाजिक क्रियाओं से होता है अतः इनको कर्ता के दृष्टिकोण से ही समझना चाहिए। मैक्स वेबर के अनुसार ''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रियाओं का व्याखात्मक बोध कराने का प्रयत्न करता है।''

विभिन्न विद्वानों के मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र समग्र रूप से सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है। विभिनन सामाजिक सम्बन्धों को सामाजिक क्रिया, सामाजिक अन्तःक्रिया एवं सामाजिक मूल्यों के आधार पर समझा जा सकता है।

बोध प्रश्न – 1

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए–
   i. समाजशास्त्र का जनक किस विद्वान को कहा जाता है।
   .....
   ii. समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। यह कथन किस विद्वान का है।
   .....
   iii. समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन है यह किस विद्वान का मानना है।
   .....
2. **रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–**
   i. हेनरी जॉनसन के अनुसार समाजशास्त्र ..... का अध्ययन है।
   ii. मैकाइवर तथा पेज के अनुसार समाजशास्त्र ..... का व्यवस्थित अध्ययन करने वाला विज्ञान है।
   iii. ऑगस्त कोंत की प्रमुख कृति ..... है।
   iv. आरम्भ में ऑगस्त कोंत ने समाजशास्त्र का नाम .....रखा।

1.3 समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास

अब आप जान चुके है कि एक विज्ञान के रूप में तथा एक पृथक विषय के रूप में समाजशास्त्र का उद्भव बहुत पुराना नहीं है। समाजशास्त्र को अस्तित्व में लाने का श्रेय फ्रांस के विद्वान **आगस्त कोंत** को जाता है। जिन्होंने 1838 में इस नए विज्ञान को समाजशास्त्र नाम दिया। **मैकाइवर** कहते है कि ''विज्ञान परिवार में पृथक नाम तथा स्थान सहित क्रमबद्ध ज्ञान की प्रायः सुनिश्चित शाखा के रूप में समाजशास्त्र को शताब्दियों पुराना नहीं, बल्कि शताब्दियों पुराना माना जाना चाहिए। किन्तु जैसा कि आप जानते है मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है समाज में रहने के कारण उसका व्यवहार हमेशा से सामाजिक नियमों द्वारा प्रभावित होता आया है। जिस समाज में मनुष्य रहता है उसके प्रति जानकारी प्राप्त करने की इच्छा हमेशा से ही उसे रही है, इसीलिए सदियों से विभिन्न धर्मशास्त्री, दार्शनिक तथा विचार को ने सामाजिक जीवन के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए है। समाजशास्त्र के उद्भव की नींव इस प्रकार से देखा जाए तो हजारों वर्षों पहले ही रख दी गई है। अब आप जानेंगे कि प्राचीन लेखों से वर्तमान समय तक विभिन्न अवस्थाओं में किस प्रकार से समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास हुआ है।

1.3.1 समाजशास्त्र के विकास की प्रथम अवस्था

यद्यपि समाजशास्त्र एक नवीन विज्ञान है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सन् 1837 से पहले सामाजिक सम्बन्धों तथा मानव व्यवहार को समझने का प्रयास नहीं किया गया। यद्यपि वह प्रयास वैज्ञानिक कम तथा काल्पनिक अधिक था। **प्लेटो** (127–347 ई.पू.) की पुस्तक **द रिपब्लिक** को समाजशास्त्र की अमूल्य कृति माना जाता है जिसमें उन्होंने नगरीय समुदाय के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण किया है। यह पुस्तक प्लेटो द्वारा दार्शनिक दृष्टिकोण से लिखी गई है। प्लेटो का मानना है कि किसी व्यक्ति का व्यवहार उस समाज की उपज होता है जिसमें वह जन्म लेता है तथा पलता है व्यक्ति उसी प्रकार से व्यवहार करता है जैसा उसे समाज द्वारा सिखाया जाता है समाज द्वारा दिया गया प्रशिक्षण किसी भी व्यक्ति के व्यवहार के लिए उत्तरदायी होता है। प्लेटो कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में सीखने की क्षमता जन्म से ही अलग–अलग होती है। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप में अलग–अलग होते हैं इसीलिए हर एक व्यक्ति हर एक कार्य को नहीं कर सकता है। सामाजिक जीवन में कार्यो का विभाजन व्यक्तिगत भिन्नताओं के आधार पर ही होना चाहिए। इस प्रकार प्लेटो मानते हैं कि समाज में सामाजिक संस्तरण (उतार–चढ़ाव) पाया जाता है। प्लेटो ने सामाजिक संगठन की जटिलता को गहराई से नहीं समझा है उन्होंने हर चीज को सुनियोजित माना है जबकि सामाजिक जीवन में कुछ भी सुनियोजित नहीं होता है। एक आदर्श समाज वही है जिसमें हर एक व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुसार कार्य करने के लिए दिया जाए। समाज सबका एवं सबके लिए है।

अरस्तु जो प्लेटो के शिष्य थे उनकी कृति ''इथिक्स'' तथा ''पॉलिटिक्स'' भी समाजशास्त्र से सम्बन्धित है। इस पुस्तक में कानून, समाज तथा राज्य का व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। अरस्तु मनुष्य के सामाजिक जीवन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य दूसरों के साथ मिलजुल कर नहीं रह सकता वह या तो मनुष्यता के निम्न स्तर पर है या उच्च स्तर पर, अर्थात या तो वह पशु है या भगवान। उसको अपने भरण–पोषण, सुरक्षा, शिक्षा तथा व्यक्तित्व विकास के लिए प्रारम्भ में अपने परिवार पर तथा उसके बाद अपने समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। देखा जाय तो इन युनानी दार्शनिकों ने राज्य से अलग समुदाय की कल्पना नहीं की है। सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया है।यह इनका कमजोर

पक्ष रहा है। यद्यपि अरस्तु का दृष्टिकोण अधिक वास्तविक रहा है किन्तु उन्होंने भी एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की ही कल्पना की है। अरस्तु का दर्शन रूढ़िवादी था।

जहाँ एक ओर प्लेटो का मानना था कि व्यक्ति का व्यवहार उसका समाज निर्धारित करता है वहीं अरस्तु इसके विपरीत यह विचार प्रस्तुत करते है कि व्यक्ति का व्यवहार समाज की प्रकृति को निर्धारित करता है। चूंकि व्यक्ति के व्यवहार को नहीं बदला जा सकता अतः समाज को भी बदलना असम्भव है। अरस्तु परिवार को सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई मानते है। तथा राज्य से पहले परिवार का स्थान रखते है। अरस्तु के पश्चात् समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा लुक्रेटियस, सिसरो, मारकस आरेलियस, सेन्ट अगस्टाइन आदि ने अपनी–अपनी पुस्तकों में की है। रोम के प्रसिद्ध लेखक सिसरो की पुस्तक ''डी ऑफिकस'' युरोप वासियों के लिए दर्शनशास्त्र, राजनीति, कानून तथा समाजशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान प्रस्तुत करती है। किन्तु इन्होंने समाज के कानूनी पक्ष पर ज्यादा जोर दिया है, गैर कानूनी पक्ष लगभग उपेक्षित रहा है। इन्होंने राज्य तथा समाज के बीच भी अन्तर स्पष्ट नहीं किया है। इसके पश्चात् वितण्डावादी विचारधारा का प्रभाव दिखाई देने लगा। ये मनुष्य को भगवान की विशेष रचना मानते थे। ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे इनका विश्वास था ये जो भी नियम बनाते है वे ईश्वर की मर्जी से बने है। अतः इन विधानों और नियमों को बदलने की कोशिश नहीं की जाती थी।

1.3.2 समाजशास्त्र के विकास की दूसरी अवस्था

तेरहवीं शताब्दी तक समाज व सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित इसी प्रकार के विचार आते रहे जिनमें एक ओर दर्शन तथा दूसरी ओर कल्पना पर अधिक विश्वास किया जाने लगा। पहले समाज में होने वाली सभी घटनाओं का कारण भगवान तथा अलौकिक शक्तियों को ही माना जाता था किन्तु अब धीरे–धीरे प्रत्येक सामाजिक घटना के कार्य–कारण सम्बन्ध को तार्किक आधार पर समझने का प्रयास किया जाने लगा। समाजशास्त्र के विकास की द्वितीय अवस्था में यह स्वीकार किया जाने लगा कि समाज तथा सामाजिक जीवन स्थिर नहीं है बल्कि अन्य प्रकृतिक वस्तुओं की तरह इसमें भी परिवर्तन होता रहता है। समाज तथा सामाजिक घटनाओं में होने वाले इस परिवर्तन के पीछे कुछ निश्चित सामाजिक नियम होते है। इस तरह से इस अवस्था में सामाजिक विचारकों ने धीरे–धीरे आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण के स्थान पर वैज्ञानिक विधियों से सामाजिक घटनाओं को समझने का प्रयास प्रारम्भ किया। थामस एक्यूनस तथा दांते की कृतियों में इस प्रकार के अध्ययन दिखाई देते हैं। इन विद्वानों ने मुनष्य को एक सामाजिक प्राणी माना तथा समाज को भी परिवर्तनशील माना। ये विद्वान मानते थे कि परिवर्तन कुछ निश्चित नियमों तथा शक्तियों के अनुसार होता है।

धीरे–धीरे 15वीं शताब्दी से प्राकृतिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक विधि को आधार बनाया जाने लगा। अब भगवान तथा कल्पनाओं पर विश्वास धीरे–धीरे कम होने लगा। अब होने वाली प्रत्येक घटना का आधार भगवान के स्थान पर विज्ञान को माना जाने लगा। इस अवस्था में प्राकृतिक विज्ञान तथा दर्शन का क्षेत्र अलग–अलग हो गया साथ ही समाज की विभिन्न घटनाओं या सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का विशिष्ट तथा अलग से अध्ययन भी प्रारम्भ होने लगा। व्यक्ति का सामाजिक जीवन जो पहले सरल था वह सभ्यता के विकसित होने के साथ ही जटिल होने लगा। सामाजिक घटनाएँ भी जटिल तथा विस्तृत होने लगी। ऐसे में समाज की विभिन्न घटनाओं एवं पक्षों का अलग–अलग एवं विशिष्ट अध्ययन आरम्भ होने लगा। सामाजिक जीवन के अलग–अलग पक्ष जैसे आर्थिक, धार्मिक, राजनीति का अध्ययन अलग–अलग दिया जाने लगा। इस प्रकार से अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र आदि

सामाजिक विज्ञानों की उत्पत्ति हुई अनेक विद्वान जिनमें मारकस आरेलियस, सेण्ट आगस्टाइन, जॉन लॉक, रूसो हॉब्स, माण्टेस्क्यू आदि का नाम उल्लेखनीय है इन्होंने समाज एवं सामाजिक जीवन के बारे में चर्चा की है। यद्यपि इन विद्वानों ने अपनी कल्पना के आधार पर अपने विचारों को रखा तथा एक 'आदर्श' तक पहुँचने का प्रयास किया है। ये 'आदर्श' तथा 'वास्तविकता' में अन्तर नहीं कर पाए। चूंकि वैज्ञानिक नियमों का सम्बन्ध वास्तविकता से होता है आदर्श से नहीं अतः इन विचारकों के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त में वैज्ञानिकता का अभाव दिखता है। साथ ही इन सामाजिक विचारकों के निष्कर्ष, क्रमबद्ध निरीक्षण पर आधारित नहीं थे। जबकि हम जानते हैं कि विज्ञान का सम्बन्ध वास्तविक निरीक्षण से है न कि काल्पनिक निष्कर्ष से। विभिन्न विद्वानों द्वारा सोलहवीं शताब्दी में राज्य तथा समाज के बीच अन्तर स्पष्ट करना आरम्भ किया गया। **मैकियावेली** ने अपनी पुस्तक **''दी प्रिंस''** में राज्य को सफलतापूर्वक चलाने के सिद्धान्तों को बताया है ये सिद्धान्त ऐतिहासिक ऑकड़ों पर आधारित हैं। **सर थॉमस मूर** की कृति **'यूटोपिया'** (1545) एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था तथा दिन–प्रतिदिन की सामाजिक समस्याओं का वर्णन करती है। **विको** की पुस्तक **'दि न्यू साइन्स'** के अनुसार समाज कुछ निश्चित कानूनों अथवा नियमों के अधीन होता है। इन कानूनों को निरीक्षण द्वारा ही समझा जा सकता है। वाह्य तत्व जैसे जलवायु, व्यक्ति के सामाजिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती है इसका वर्णन **माण्टेस्क्यू** ने अपनी पुस्तक **'द स्पिरिट ऑफ लॉज'** में किया है। यद्यपि माण्टोस्क्यू के विचार अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक यर्थाथ थे किन्तु उन्होंने भी अरस्तु के समान यही रूढिवादी निष्कर्ष दिया कि 'जो है', वह अवश्य 'रहना चाहिए'।

शुरूवात के सामाजिक विचारक प्रमुख रूप से मानीवय विचारधारा के नैतिक पक्ष में रूचि रखते थे, इनके समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में वैज्ञानिक पक्ष का अभाव दिखाई देता है। इस प्रकार से सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में ये कमियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक बनी रही। इसके पश्चात फ्रेंच दार्शनिक तथा समाजशास्त्री आगस्त कोंत द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में समाजशास्त्र की व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक नींव रखी गई। ऑगस्त कोंत ने इस बात को रखा कि विभिन्न विज्ञानों का विकास एक निश्चित क्रम में हुआ है और इस क्रम विकास में समाजशास्त्र सबसे आधुनिक तथा सबसे पूर्ण विज्ञान है। एक पृथक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की चर्चा कोंत ने अपनी प्रमुख कृति ''पॉजिटिव फिलॉसफी'' में 1838 ई. में की।

1.3.3 समाजशास्त्र के विकास की तीसरी अवस्था

प्राचीन युरोपीय समाज जो राजतन्त्र पर आधारित था वह एक परम्परवादी समाज पर आधारित था वह एक परम्परावादी समाज था। आर्थिक व्यवस्था में कृषि भूमि केन्द्रीय स्थान पर थी। समाज में धर्म का मुख्य स्थान था। नैतिकता–अनैतिकता का निर्णय धर्मगुरू (पादरी) द्वारा किया जाता था। समाज में परिवार तथा नातेदारी सम्बन्धों का महत्वपूर्ण स्थान था। राजा को धर्म का समर्थन प्राप्त था तथा वह अपने दैवीय अधिकारों का प्रयोग करके शासन करता था। एक पृथक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का उद्भव उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ उस समय यूरोप फ्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रान्तियों के फलस्वरूप परिवर्तनों के दौर से गुजर रहा था। फ्रांसीसी तथा औद्योगिक क्रान्ति से पहले यूरोप में चौदहवी से उन्नीसवी शताब्दी के बीच हुई वाणिज्यिक क्रान्ति एवं वैज्ञनिक क्रान्तियों का समय जो ''पुनर्जागरण काल'' कहलाता है, में समाजशास्त्र के उद्भव हेतु एक पृष्ठभूमि बनी।

जिटलिन ने समाजशास्त्र की उत्पत्ति का कारण दो विरोधी विचारधारा के बीच की अन्तःक्रिया को माना है। उनके अनुसार पहली विचारधारा 48वीं सदी की विचारधारा है जिसे **प्रगति की**

विचारधारा कहते हैं। इस विचारधारा को मानने वालों का कहना था कि समाज प्रकृति का एक अंग है अतः प्राकृतिक नियम समाज पर भी लागू होते है। सामाजिक वैज्ञानिकों को उन नियमों को खोजना चाहिए जो समाज को संचालित एवं परिवर्तित करते हैं। दूसरी विचारधारा का विकास 19वीं सदी के प्रारम्भिक काल में हुआ जिसे **व्यवस्था की विचारधारा** कहा गया। चूँकि औद्योगिक तथा फ्रांसीसी क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरो में संक्रमण का दौर शुरू हो गया था। पुराने नियम, मूल्य एवं विचारों के स्थान पर नए सामाजिक नियम तथा कानून बनने लगे थे इस प्रकार से समाज पूरी तरह अव्यवस्थित हो चुका था। ऐसे में समाज के बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा व्यवस्था की विचारधारा का विकास किया गया। ऑगस्त कोंत इन दोनों ही विचारधाराओं से प्रभावित थे। कोंत का मानना था कि समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं का तो वैज्ञानिक अध्ययन करेगा ही साथ ही उन सभी नियमों तथा शक्तियों का भी अध्ययन करेगा जो समाज में परिवर्तन लाते हैं तथा सामाजिक व्यवस्था बनाने में भी योगदान देते हैं।

जैसा कि आप जान चुके हैं कि सर्वप्रथम समाजशास्त्र का अध्ययन फ्रांसीसी विचारक ऑगस्त कोंत द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में अपनी प्रमुख कृति 'पॉजिटिव फिलॉसफी' में किया गया। इसीलिए ऑगस्त कोंत को समाजशास्त्र का जनक भी कहा जाता है। शुरू में ऑगस्त कोंत गणित के छात्र थे, किन्तु बाद में वे सामाजिक समस्याओं के प्रति आकर्षित हुए तथा 1817–18 ई. में फ्रांसीसी विद्वान सेण्ट साइमन के सम्पर्क में आए। सेण्ट साइमन ऐसे विज्ञान को खोजना चाहते थे जिसमें सामाजिक घटनाओं का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन किया जा सके। आगस्त कोंत ने इनके सम्पर्क में आकर इनके विचारों के आधार पर एक नए विज्ञान की नींव रखी। आरम्भ में **कोंत** ने इस विज्ञान को **'सोशल फिजिक्स'** नाम दिया किन्तु बेल्जियम के विद्वान **क्वेटलेट** ने इस शब्द का प्रयोग 1835 ई. में अपने एक लेख में किया था अतः बाद में कोंत ने इस नए विज्ञान का नाम **'सोशियोलॉजी'** रखा। कोंत तत्कालीन सामाजिक घटनाओं की अध्ययन प्रणाली से असंतुष्ट थे। उस समय सामाजिक घटनाओं का अध्ययन दार्शनिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से किया जाता था। कोंत एक ऐसे विज्ञान की रचना करना चाहते थे जो सामाजिक घटनाओं का अध्ययन वास्तव में वैज्ञानिक रूप से करे तथा तत्कालीन दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों से प्रभावित न हो। कोंत कहते हैं कि सामाजिक जीवन की दिशाएँ एकता के सूत्र में बँधी होती हैं और यह एकता विकास की ओर उन्मुख होती है। उनके अनुसार सामाजिक विकास की तीन अवस्थाएँ होती है– धार्मिक, भौतिक तथा वैज्ञानिक। मनुष्य इन्हीं तीन अवस्थाओं के द्वारा आगे बढ़ता जाता है। जहाँ तक प्राकृतिक घटना–वस्तु के चिन्तन का प्रश्न है, मानव अब वैज्ञानिक अवस्था को प्राप्त कर चुका है। किन्तु उसका समाज–सम्बन्धी चिन्तन अभी भी भौतिक अवस्था में ही है। यद्यपि अधिभौतिक अवस्था लगभग पूर्ण हो चुकी है तथा मानवता वैज्ञानिक अवस्था की दहलीज पर है। कोंत का दृष्टिकोण आशावादी दिखाई देता था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने 1843 में समाजशास्त्र को इंग्लैण्ड में स्थापित किया तथा हरबर्ट स्पेंसर द्वारा इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया गया। **हरबर्ट स्पेंसर** ने **डार्विन** के प्रसिद्ध सिद्धान्त **''सरवाइवल ऑफ द फिटेस्ट''** (**बलिष्ठः अतिजीवितः**) का प्रयोग समाजशास्त्र में किया। स्पेंसर ने कहा कि जीवों के समान ही सामाजिक घटना–वस्तु भी सरल से जटिल तथा समरूप से विषम रूप की ओर धीरे–धीरे विकसित होती है। उनके अनुसार एक साधारण आदिम मानव का विकास वर्तमान के सभ्य मानव के रूप में हुआ है। अपने जैविक सिद्धान्त में स्पेंसर ने समाज को मानव शरीर के समान माना है स्पेंसर के सिद्धान्त जिनमें उन्होंने सामाजिक घटना वस्तु की जैविक व्याख्या की है 49वीं शताब्दी तक प्रचलित रहे। इसके पश्चात ग्राहम वैलेस, हॉबहाउस, गिडिंग्स, कूले, मीड आदि ने सामाजिक विकास की व्याख्या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से करी।

इन सभी विचारकों ने स्पष्ट किया कि सामाजिक विकास किस प्रकार से मानव मन के विकास पर निर्भर है। ऑगस्त कोंत ने समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवस्था तथा प्रगति का विज्ञान कहा है। वे समाज को एक व्यवस्था मानते हैं जिसके सभी भाग एक दूसरे पर निर्भर होते हैं तथा एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार से कोंत मानते है कि सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों के बीच अर्न्तसम्बद्धता तथा अन्तनिर्भरता पाई जाने के फलस्वरूप समाज का अध्ययन समग्र रूप में होना चाहिए। जो समाजशास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है। समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं को नियमित करने वाले सामाजिक निमयों को खोजता है। ऑगस्त कोंत के पश्चात **इमाइल दुर्खीम** (1858–1947) द्वारा समाजशास्त्र के क्षेत्र में अत्यधिक कार्य किया गया। **दुर्खीम** भी समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों से अलग अध्ययन करने पर बल देते हैं। वे समाजशास्त्र को **सामूहिक प्रतिनिधित्व** का विज्ञान मानते है। सामुहिक प्रतिनिधित्व ऐसे सामाजिक प्रतीक होते है जो समाज के अधिकांश लोगों द्वारा नियंत्रित होते हैं जैसे– विचार, भावनाएँ, व्यवहार के ढंग, धारणाएँ इत्यादि।

एक विषय के रूप में सर्वप्रथम समाजशास्त्र का अध्ययन येल विश्वविद्यालय (अमेरिका) में सन् 1836 में शुरू हुआ। इसके पश्चात 1889 में फ्रांस में, 1924 में पोलैंड, 1924 में मिस्र, 1947 में स्वीडन तथा श्रीलंका एवं 1954 में रंगून विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्ययन शुरू हुआ। ऑस्ट्रेलिया, थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया तथा पाकिस्तान आदि में समाजशास्त्र को अन्य विषयों के साथ ही मिलाकर अध्ययन किया जाता है। देखा जाय तो समाजशास्त्र के विकास में इस समय विश्व के कई देशों के विद्वानों ने अपना योगदान दिया है। जहाँ एक ओर जर्मनी में टॉनीज, रैजल, मार्क्स एवं वीरकान्त ने समाजशास्त्र के विकास में अहम् भूमिका निभाई है वहीं दूसरी ओर फ्रांस में रूसो, माण्टेन तथा मॉस का भी योगदान कम नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका के लेस्टर वार्ड, रॉस, मैकाइवर सोरोकिन, पारसन्स आदि विद्वानों द्वारा समाजशास्त्र के विकास में सहयोग किया गया। हरबर्ट स्पेंसर, मिल, जिन्सबर्ग आदि ने इंग्लैण्ड में समाजशास्त्र को विकसित किया।

बोध प्रश्न – 2

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–
   i. प्लेटो की पुस्तक ..... को समाजशास्त्र की अमूल्य कृति माना जाता है।
   ii. इथिक्स तथा पॉलिटिक्स की रचना ..... द्वारा की गई है।
   iii. पॉजिटिव फिलॉसफी की रचना उन्नीसवी शताब्दी में फ्रांसीसी विद्वान एवं समाजशास्त्री ..... द्वारा की गई।
2. एक शब्द में उत्तर दिजिए–
   i. सर्वप्रथम समाजशास्त्र का अध्यन किस विश्वविद्यालय में प्रारम्भ हुआ?

      .....

      .....
   ii. सामूहिक प्रतिनिधित्व के विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र को किस विद्वान द्वारा परिभाषित किया गया है?

      .....

      .....
   iii. सर्वप्रथम किस विद्वान ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया?

.....

.....

.....

1.3.4 समाजशास्त्र के विकास की चतुर्थ अवस्था

बीसवीं शताब्दी में समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक स्वरूपों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन आरम्भ होने लगा। समाजशास्त्र को व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करने वाला विज्ञान माना जाने लगा। इस प्रकार से व्यक्ति एवं समाज के बीच पाए जाने वाले सम्बन्ध को जानने के लिए व्यक्ति के सामुदायिक जीवन का अध्ययन किया जाने लगा। व्यक्ति के वृहत्तर समूह से क्या सम्बन्ध है इसे जाने के लिए **स्मॉल** तथा **गैलपिन** आदि समाजशास्त्रियों ने गाँव, नगर तथा अन्य प्राथमिक समूहों का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। **कूले** ने इन्हीं समूहों का अध्ययन करके मानव समूहों को प्राथमिक तथा द्वैतीयक समूहों में विभाजित किया। कूले के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व पर प्राथमिक समूहों का प्रभाव द्वैतीयक समूहों की अपेक्षा अधिक एवं स्थाई होता है। नगरों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने का श्रेय पार्क तथा बर्गेस को जाता है। इन्होंने नगरों का जनसंख्यात्मक तथा संरचनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया। इसके पश्चात् विभिन्न समूहों के अन्तःसम्बनधों के मनोवैज्ञानिक स्वरूपों का भी अध्ययन प्रारम्भ होने लगा। फलस्वरूप समाजमिति पद्धति विकसित हुई। जहाँ एक ओर सामाजिक जीवन में अनुकरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के महत्व पर **जी. टार्ड** तथा **ई.ए. रॉस** द्वारा प्रकाश डाला गया वहीं दूसरी ओर **थॉमस** तथा **नेनिकी** ने मनोवृत्ति एवं मूल्यों की बात की है। इस प्रकार समाजशास्त्र के अन्तर्गत अलग–अलग विद्वानों ने समाज के विभिन्न पक्षों को लेकर अध्ययन प्रारम्भ करे जो समाजशास्त्र को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान देते है। जर्मन समाजशास्त्री **मैक्स वेबर** को आधुनिक समाजशास्त्र के जनकों में से एक माना जाता है। मैक्स वेबर उन प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों में से एक है जिन्होंने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए एक पृथक वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार किसी भी क्रिया को तभी समझा जा सकता है जब उस क्रिया को करने वाले कर्त्ता द्वारा लगाए गए व्यक्तिनिष्ठ अर्थ के आधार पर पता लगाया जाए। इन्होंने समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु सामाजिक क्रिया को माना तथा इसे जानने के लिए इस बात पर जोर दिया है कि कर्त्ता द्वारा लगाए गए अर्थ को समझा जाए। मैक्स वेबर ने **आदर्श प्रारूप** की बात की है। उनके अनुसार सामाजिक घटनाओं के कार्य कारण सम्बन्धों की तार्किक रूप से तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक उन घटनाओं को पहले से ही समानताओं के आधार पर कुछ सैद्धान्तिक श्रेणियों में न बॉट लिया जाए। इस प्रकार हमें अपने अध्ययन के लिए कुछ आदर्श प्रारूप मिल जाऐंगे। आगे मैक्स वेबर कहते हैं कि समाजशास्त्र को वैज्ञानिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने के लिए ऐसा करना जरूरी है क्योंकि सामाजिक घटनाओं का क्षेत्र बहुत विस्तृत तथा जटिल होता है ऐसे में यह जरूरी है कि समानताओं के आधार पर विचारपूर्वक अथवा तार्किक रूप से समस्त में से कुछ घटनाओं अथवा व्यक्तियों को इस प्रकार से चुना जाए कि वे सम्पूर्ण घटनाओं का प्रतिनिधित्व कर सके। **जार्ज सिमेल** ने समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान माना तथा स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की स्थापना की। इनका मानना था कि समाजशास्त्र केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का ही अध्ययन करता है। देखा जाए तो बीसवीं शताब्दी में विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा सामाजिक परिवर्तन के साथ–साथ सामाजिक संरचना से सम्बन्धित अध्ययन भी प्रारम्भ होने लगे थे।

अमेरिकी समाजशास्त्री **टालकॉट पारसन्स** ने समाज को एक व्यवस्था माना है तथा सामाजिक क्रिया को इस सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत इकाई माना। अमेरिकी समाजशास्त्री **रॉबर्ट के मर्टन** ने मध्यवर्ती सीमा सिद्धान्तों की बात कही है। मैलिनोस्की तथा रैडक्लिफ ब्राउन ने इस बात पर जोर दिया कि सामाजिक–सांस्कृतिक तत्वों का अध्ययन सम्पूर्ण समाज एवं संस्कृति के संदर्भ में किया जाना चाहिए क्योंकि प्रत्येक सामाजिक सांस्कृतिक तत्व सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिए कुछ प्रकार्य करते हैं तथा ये तत्व प्रकार्यत्मक आवश्यकता के आधार पर एक दूसरे से जुड़े होते हैं तथा अपने जीवन के लिए व्यवस्था पर ही आश्रित होते है। इन दोनों ही विद्वानों ने प्रकार्यवादी विचारधारा को व्यवस्थित किया। **टायनबी** ने सभ्यता की उत्पत्ति तथा विकास को प्रकृति की चुनौती के उत्तर में किए जाने वाले प्रयत्नों का परिणाम माना है। उनके अनुसार मनुष्य को प्रकृति द्वारा चुनौती मिलती है तब उसे उस चुनौती का उत्तर देने के लिए कुछ प्रयत्न करना पड़ता है जिसके फलस्वरूप सभ्यता का विकास होता है। इस संदर्भ में उन्होंने, भारत, मिस्र, मलेशिया, चीन आदि सभ्यताओं का उदाहरण दिया है। उनके अनुसार य़द्यपि प्रमुख रूप से चुनौतियाँ प्राकृतिक ही होती है किन्तु ये सामाजिक तथा प्राणीशास्त्रीय भी हो सकती है। **पिटरिम सोरोकिन** द्वारा सामाजिक तथा सांस्कृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। ब्लूमर मीड तथा कूले ने प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

देखा जाए तो ऑगस्त कोंत द्वारा 1838 ई. में समाजशास्त्र की स्थापना के पश्चात् विश्व के विभिन्न देशों में इस विज्ञान का अध्ययन एवं अध्यापन कार्य होने लगा मुख्यतः इग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में अनेक विद्वानों द्वारा इस नए विषय के अन्तर्गत अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किए गए। इंग्लैण्ड में **जॉन स्टुअर्ट मिल** तथा **हरबर्ट स्पेंसर** के अतिरिक्त **वेस्टरमार्क, कार्ल, मैनहीम, हॉबहाउस, राबर्टसन, जिन्सबर्ग, चार्ल्स बूथ, हॉल्सन** आदि विद्वानों ने समाजशास्त्र के विकास में अपना महत्पवूर्ण योगदान दिया है। इनके द्वारा इंग्लैण्ड में सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया गया। फ्रांस में कोंत के पश्चात् दुर्खीम द्वारा समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया गया। इनके अतिरिक्त **रूर्सो, टार्डे मॉन्टैन** और **मॉस** आदि द्वारा समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया गया। जर्मनी में मैक्स वेबर का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। इन्होंने समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विाानों से अलग एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। इनके अतिरिक्त **जार्ज सिमेल, टॉनीज, वीरकान्त, रैजल, वॉनवीज** आदि विद्वानों ने जर्मनी में समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अमेरिका में **बार्नस, टालकॉट, पारसन्स, कोजर, रॉस, मैकाइवर, सोरोकिन, ऑगबर्न, निमकॉफ, गिडिंग्स, मर्टन पार्क** एवं **बर्गेस** आदि विद्वानों द्वारा समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किए गए हैं।

देखा जाए तो इंग्लैण्ड में समाजशास्त्र का विकास बहुत अधिक नहीं हो पाया। फ्रांस में भी दुर्खीम के बाद समाजशास्त्र के विकास की गति अत्यन्त धीमी हो गई। फ्रांस में समाजशास्त्र संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में अत्यधिक रहा। साथ ही जर्मनी में 49वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षो में अनेक विद्वानों द्वारा समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया गया। यद्यपि पहले जर्मनी में पहले समाजशास्त्र को उसके विश्वकोषीय स्वभाव के कारण अस्वीकार कर दिया गया था। **रेमन्ड एटन** कहते हैं कि दूसरे स्थानों की तरह यहाँ भी समाजशास्त्र के क्षेत्र को परिभाषित एवं सीमित करने का प्रयास किया गया किन्तु जार्ज सिमेल के विचारों से प्रभावित होकर समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान मानते हुए इसे एक अमूर्त विज्ञान के रूप में विकसित करने का प्रयास किया

गया। समाजशास्त्र का तीव्र गति से विकास अमेरिका में हुआ। अमेरिका का समाजशास्त्र आरम्भ से ही अत्यन्त समृद्ध रहा है। क्रान्तिकारी समाजशास्त्र तथा नए समाजशास्त्र की उद्भव भी अमरिका में ही हुआ है सर्वप्रथम एक विषय के रूप में समाजशास्त्र का अध्ययन येल विश्वविद्यालय अमेरिका में 1876 में प्रारम्भ हुआ। अमेरिका में समाजशास्त्र इतना अधिक लोकप्रिय है कि यहाँ के लगभग सभी महत्वपूर्ण विद्वान समाजशास्त्री रहे हैं। अमेरिका में समाजकार्य तथा समाजसुधार पर बहुत कार्य किया गया है। **बार्नस, पारसन्स, ऑगबर्न, निमकॉफ, लेस्टर वार्ड, रॉस, मैकाइवर, पिट्रिसम सॉरोकिन, लुण्डबर्ग, यंग** आदि विद्वान अमेरिका के ही है। अमेरिका के येल, कोलम्बिया, शिकागो विश्वविद्वालयों का समाजशास्त्र के प्रचार प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अमेरिका के सबसे प्राचीन विश्वविद्यालय हारवर्ड विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना 1930 के बाद हुई तथा प्रिंसटन विश्वविद्यालय में 1960 के दशकों में यह विषय स्थापित किया गया।

समाजशास्त्र के विषय में कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र यूरोप में पैदा हुआ और अमेरिका में विकसित हुआ जहाँ से यह सम्पूर्ण विश्व में विकसित होने लगा। बहुत कम समय में ही इस विज्ञान ने सम्पूर्ण विश्व में अपना विस्तार कर लिया है। वर्तमान समय में समाजशास्त्र एक विषय के रूप में विश्व के अधिकांश विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जा रहा है। इस विषय की अनेक महत्वपूर्ण शाखाएँ विकसित हुई हैं जिनमें महत्वपूर्ण शोधकार्य विभिन्न संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों में किए जा रहे हैं। इसके साथ ही अन्य सामाजिक विज्ञानों के अध्ययनों में भी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है।

1.4 भारत में समाजशास्त्र का उद्भव तथा विकास

अब आप जान गए हैं कि किस प्रकार से विदेशों में समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास हुआ। अब आप जानेंगे कि भारत में किस प्रकार से इस सामाजिक विज्ञान की स्थापना हुई। भारत में सर्वप्रथम 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रोफेसर **ब्रजेन्द्रनाथ शील** द्वारा समाजशास्त्र विषय पर अध्ययन प्रारम्भ किया गया। इसके पश्चात प्रो0 **पैट्रिक गिड्स** द्वारा बम्बई विश्वविद्यालय में इस विषय का अध्ययन किया जाने लगा। यद्यपि अनौपचारिक रूप से भारत में सामजशास्त्रीय अध्ययन अन्य रूपों में हजारों वर्ष पहले ही आरम्भ हो चुके थे। भारत वर्ष के प्राचीन ग्रन्थों जैसे– वेद, उपनिषद्, स्मृति, रामायण, महाभारत आदि में सामाजिक मूल्यों आदर्शो तथा सामाजिक संस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता हैं इसके अतिरिक्त कौटिल्य का अर्थशास्त्र, शुक्राचार्य का नीतिशास्त्र आदि भी अपने समय की सामाजिक व्यवस्था, संस्थाएँ, परम्पराओं आदि का विवरण प्रस्तुत करती है। इस प्रकार देखा जाए तो भारत वर्ष में विभिन्न कालों में रचित ग्रन्थों का सामजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में व्यवस्थित पुनरावलोकन तथा विश्लेषण करके उस समय की सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं, परम्पराओं आदि के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्राप्त की जा सकती है। प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील, प्रो0 विनय कुमार सरकार, डॉ0 भगवान दास तथा प्रो0 केवल मोटवानी आदि भारतीय विद्वानों द्वारा प्राचीन ग्रन्थों का सामजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया गया है। प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील की पुस्तक ''पॉजिटिव साइन्स ऑफ द ऐन्शिन्ट हिन्दूज''। प्रो0 विनय कुमार सरकार की 'द पॉजिटिव बैकग्राउण्ड ऑफ हिन्दू सोश्योलॉजी, डॉ0 भगवानदास की ''द साइन्स ऑफ सोशल आर्गनाइजेशन'' तथा प्रो0 केवल मोटवानी की पुस्तक ''इण्डियाज ऐन्शेण्ट लिट्रेचर : एन इण्ट्रोडक्ट्री सर्वे आदि में भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था तथा समाजिक विचारधारा को प्रस्तुत किया गया है।

औपचारिक रूप से 1917 में प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के साथ ही समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की गई। यद्यपि ये दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे तथापि उनके द्वारा समाजशास्त्रीय अध्ययन किए गये एवं **''कम्पेरिटिव स्टडी ऑफ** क्रिश्चिन **एण्ड वैष्णव** ट्रेडिशन'' तथा **''ऑरिजिन ऑफ रेसेज''** नामक पुस्तकों की रचना की गई। 1920 के लगभग प्रो0 शील के प्रयासों से मैसूर विश्वविद्यालय में बी.ए. की कक्षाओं में समाजशास्त्र विषय को तीन अन्य विषयों के साथ एक गौण विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा। डॉ0 राधाकमल मुखर्जी, श्री विनय कुमार सरकार, डॉ0 डी0 एन0 मजूमदार, प्रो0 निर्मल कुमार बोस आदि प्रो0 ब्रजेन्द्रनाथ शील के ही शिष्य थे। मैसूर विश्वविद्यालय के पश्चात् 1924 में प्रो0 पैंट्रिक गिड्स द्वारा बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र तथा नागरिकशास्त्र को मिलाकर एक विभाग खोला गया। प्रो0 गिड्स ने नगरीय समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। नगर नियोजन के क्षेत्र में उनके अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बाद में जी.एस. घुरिए तथा के. एम. कापड़िया आदि विद्वान भी इसी विभाग से जुड़े जो वैसे तो मानवशास्त्री थे किन्तु समाजशास्त्र के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सन् 1924 में प्रो0 गोविन्द सदाशिव घुरिये बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग के अध्यक्ष बने। प्रो0 घुरिए ने भारत में समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इनके द्वारा 1952 में ''इण्डियन सोश्योलॉजिकल सोसाइटी'' की स्थापना की गई तथा ''सोश्योलॉजिकल बुलेटिन'' का प्रकाशन एवं सम्पादन किया गया। प्रो0 घुरिए द्वारा **''कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया''** (1957) नामक पुस्तक की रचना की गई जिसमें उन्होंने भारतीय जाति तथ वर्ग व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए। इसके अतिरिक्त इन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य देशों की परिवार संस्था का तुलनात्मक अध्ययन अपनी पुस्तक ''फैमिली एण्ड किन इन इण्डो युरोपियन कल्चर'' (1955) में प्रस्तुत किया है। पुणे विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की स्थापना मानवशास्त्र के साथ 1938 में हुई जिसकी प्रथम अध्यक्ष इरावती कर्वे थी।

लखनऊ विश्वविद्यालय में भी लगभग इसी समय सन् 1924 में डॉ0 **राधाकमल मुखर्जी** द्वारा अर्थशास्त्र विभाग के साथ ही समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया गया। सन् 1956 में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र विभाग से अलग होकर समाजसेवा विभाग के साथ जुड़ गया। सन् 1972 तक ये दोनों ही विषय एक ही विभाग के अन्तर्गत कार्यरत रहे किन्तु इसके पश्चात् समाजशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय के रूप में लखनऊ विश्वविद्यालय में स्थापित हो गया। डॉ0 राधाकृष्ण मुखर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय के जे.के. इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्स के संस्थापक प्रोफेसर भी रहे। समाजशास्त्र के क्षेत्र में इनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। इनके सामाजिक मूल्य सम्बन्धी विचार समाजशास्त्र के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की जिनमें से कुछ मुख्य पुस्तकें इस प्रकार से है– रीजनल सोश्योलॉजी (1926), द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ आर्ट (1948), द सोशल स्ट्रचर ऑफ वैल्यूज (1949), द डायनमिक्स ऑफ मॉरल (1954), द हॉराइजिन ऑफ मैरिज (1956), द फिलॉसफी ऑफ सोशल साइन्स (1960) आदि। डॉ0 राधाकमल मुखर्जी के पश्चात् लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ0 डी0 पी0 मुखर्जी जोकि एक अर्थशास्त्री थे, का भी समाजशास्त्र के क्षेत्र में अमूल्य योगदान रहा है। डॉ0 डी0 पी0 मुखर्जी ने भारतीय समाज के विश्लेषण में मार्क्सवादी परिपेक्ष्य का प्रयोग करते हुए द्वंदवाद के आधार पर भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तन को समझाने का प्रयास किया तथा आंतरिक एवं वाह्य परम्परा के रूप में भारतीय परम्परा का इस्लामिक एवं पश्चिमी परम्परा के साथ द्वंद के साथ–साथ भारतीय परम्परा के अन्तर्गत उच्च एंव स्थानीय परम्परा के बीच क्रियाशील द्वंद की उदाहरण सहित विवेचना प्रस्तुत की। राधाकमल मुखर्जी

तथा डी0 पी0 मुखर्जी के अतिरिक्त लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ0 आर0 एन0 सक्सेना, डॉ0 टी0 एन0 मदान, डॉ0 एस0 पी0 नागेन्द्र, डॉ0 ए0के0 सरन, डॉ0 इन्द्रदेव तथा डॉ0 कैलाश नाथ शर्मा ने भी समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके साथ ही लखनऊ विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र विभाग की भी स्थापना हुई जहाँ प्रसिद्ध मानवशास्त्री डी0एन0 मजूमदार ने अध्यापन कार्य शुरू किया।

सन् 1954 के दौरान भारत के कई विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में समाजशास्त्र का अध्यापन कार्य शुरू होने लगा था तथा समाजशास्त्र एक लोकप्रिय विषय बनने लगा। दिल्ली, गुजरात, नागपुर, उस्मानिया, बडौदा, कर्नाटक, पंजाब, मद्रास, कुरूक्षेत्र आदि विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र का अध्यापन कार्य शुरू किया गया। इसके साथ–साथ उत्तर प्रदेश में आगरा, वाराणसी, मेरठ, कानपुर, कुमाऊँ, गढ़वाल, गोरखपुर, रूहेलखण्ड, अवध, अलीगढ़ तथा बुन्देलखण्ड आदि में भी समाजशास्त्र विभाग स्थापित किया गया एवं एक पृथक विषय के रूप में समाजशास्त्रीय अध्ययनों हेतु अनेक अनुसंधान केन्द्र भी स्थापित किए गए है जैसे– जे0के0 इन्स्टीट्यूट ऑफ सोश्योलॉजी एण्ड सोशल वर्क्स, लखनऊ; टाटा इन्स्टीट्यूटस ऑफ सोशल साइन्सेज, बम्बई तथा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज आगरा आदि। इसके अतिरिक्त यू0जी0सी0 (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग) तथा आई0सी0एस0एस0आर0 (भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद) द्वारा भी समाजशास्त्र के अध्ययन–अध्यापन एवं शोध कार्यों हेतु पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। इसके साथ ही देश के तकनीकी एवं चिकित्सा संस्थाओं जैसे– आई.आई.टी. कानुपर तथा दिल्ली एवं एच.बी.टी.आई. कानपुर में भी समाजशास्त्र विषय का अध्ययन एवं शोध कार्य किया जाता है। इन संस्थानों में विशेषकर औद्योगिक समाजशास्त्र तथा नगरीय समाजशास्त्र का अध्ययन किया जाता है। तकनीकी संस्थानों के अतिरिक्त देश के अनेक कृषि विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों मे जैसे– पंतनगर, कानपुर, नैनी (इलाहाबाद) तथा फैजाबाद कृषि विश्वविद्यालयों में भी समाजशास्त्र का अध्ययन–अध्यापन कार्य किया जाता है। इन कृषि विश्वविद्यालयों में मुख्यतः ग्रामीण समाजशास्त्र का अध्ययन–अध्यापन किया जाता है।

भारत में समाजशास्त्र के क्षेत्र में अनेक विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने समाजशास्त्र के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य किया है एवं अपनी कृतियों द्वारा इस विषय को गहनता से समझने में सहयता की है जैसे के.एम. कापड़िया, डॉ0 पी. एन. प्रभु, डॉ0 एम. एन. श्रीनिवास, डॉ0 ए. आर. देसाई, डॉ0 डी. एन. मजूमदार आदि। डॉ0 **के. एम. कापड़िया** ने अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तकों 'हिन्दू किनशिप' (1947) तथा **'मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया'** (1956) में हिन्दू नातेदारी तथा भारतीय विवाह एवं परिवार के सम्बन्ध में अपने अध्ययन एवं विश्लेषण को प्रस्तुत किया है। डॉ0 **पी. एन. प्रभु** ने ''हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन'' (1954) में जाति प्रथा तथा आश्रम व्यवस्था आदि विषयों का विश्लेषण प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत किया। डॉ0 डी.एन. मजूमदार, रिजले तथा हट्टन द्वारा भारत में जाति–प्रथा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अध्ययन कार्य किए गए है। ''सोशेलॉजिकल बुलेटिन'' के समान ही एक अन्य शोध पत्रिका ''कॉन्ट्रिब्यूशन टू सोश्योलॉजी'' का प्रकाशन **डी0एफ0 पोकॉक** तथा **लुई डयुमा** द्वारा आरम्भ किया गया। काशी विद्यापीठ में समाजशास्त्र को स्थापित करने एवं विकसित करने का श्रेय डॉ0 भगवान दास तथा प्रो0 राजाराम शास्त्री को दिया जाता है। **'समाजिकी'** नामक शोध पत्रिका का प्रकाशन भी काशी विद्यापीठ के समाजशास्त्र विभाग द्वारा किया जाता है।

भारत में समाजशास्त्र के अन्तर्गत भारतीय सामाजिक संस्थाओं, भारतीय जाति एवं वर्ग व्यवस्था, भारतीय ग्रामीण समुदाय एंव नगरीय समुदाय आदि का विभिन्न विद्वानों द्वारा गहनता से अध्ययन किया गया है। (**डॉ0 घुरिये** ने अपनी पुस्तक **''कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया''** (1957) जिसका परिवर्तित नाम **''कास्ट, क्लास एण्ड आक्यूपेशन''** है में भारतीय जाति तथा वर्ग व्यवस्था से सम्बन्धित सिद्धान्त प्रस्तुत किए है। साथ ही अपनी पुस्तक **''फैमली एण्ड किन इन इण्डो–यूरोपियन कल्चर''** में भारतीय तथा पश्चिम के देशों की परिवार संस्था का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। डॉ0 कैलाशनाथ शर्मा ने जाति–प्रथा तथा नेतृत्व आदि का अध्ययन ग्रामीण समुदायों में किया है। ग्रामीण समुदायों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण अध्ययन **डॉ0 दुबे** की **''इण्डियाज चेन्जिंग विलेजज''** तथा **डॉ0 डी. एन. मजूमदार** की पुस्तक **''रूरल प्रोफाइल''** में परिलक्षित होते हैं। प्रसिद्ध भारतीय विद्वान एम .एन. श्रीनिवास की तीन महत्वपूर्ण अवधारणाएँ– संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण तथा प्रभुत्वसम्पन्न जाति, समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।)

भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययनों के क्षेत्र में उभारती प्रवृत्तियों के विषय में डॉ0 **आर. एन. मुखर्जी** कहते हैं कि ''भारत की सामाजिक संरचना या सामाजिक जीवन का एक मोटे रूप में अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि परम्परात्मक रूप में जाति–प्रथा, संयुक्त परिवार तथा पंचायत ये तीन संस्थाएँ भारतीय सामाजिक जीवन व संगठन की आधारशिला है।'' इनमें जाति–प्रथा अपनी समस्त जटिलताओं तथा अनोखेपन के साथ एक अद्वितीय संस्था ही जिसने अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में जाति प्रथा का अध्ययन ही सम्भवतः सबसे पहले हुआ था और इस क्षेत्र में लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ0 डी. एन. मजूमदार की देन वास्तव में उल्लेखनीय है। यद्यपि इस क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वान सर्वश्री रिजले तथा हट्टन आदि का नाम भी उल्लेखनीय है। **रिजले** के अनुसार अनुलोम विवाह के द्वारा प्रजातीय मिश्रण के फलस्वरूप ही विभिन्न जातियाँ उत्पन्न हुई। हट्टन द्वारा अपने अध्ययन में इस बात पर बल दिया गया कि सामाजिक निषेधों के प्रति लोगों का मनोभाव, पेशों के आधार पर समाज का विभाजन तथा समाज में विचित्र एवं अपरिचित वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति कुसंस्कार ने ही भारतीय समाज के ढाँचे का आकार बनाया है।

जे.पी. सिंह के अनुसार भारत में समाजशास्त्र अत्यधिक विकसित नहीं हो पाया है। उनके अनुसार भारत में आठ मानवशास्त्रियों का प्रभाव समाजशास्त्र पर अधिक रहा है। जिनमें **गोविन्द सदाशिव घुरिये, एम. एन. श्रीनिवास, रामकृष्ण मुखर्जी, श्यामाचरण दुबे, टी. एन. मदान, आन्द्रे बिते, जे0 पी. सिंह उबेराय, रवीन्द्र कुमार जैन** आदि मानवशास्त्रियों की कृतियों में समाजशास्त्र कम तथा मानवशास्त्र अधिक दिखाई देता है। दूसरा वे कहते है कि भारतीय समाजशास्त्र के पिछड़ने का कारण भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र के साथ आरम्भ से ही अनुसंधान प्रविधियों एवं सांख्यिकी का अध्यापन न होना है। भारतीय समाजशास्त्रीय पाश्चात्य समाजशास्त्रियों की तरह संख्यात्मक विश्लेषण करने में काफी पिछड़े है।

बोध प्रश्न – 3

1. एक शब्द में उत्तर दिजिए–
   i- भारत में सर्वप्रथम 1917 में किस विद्वान द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्यापन किया गया?

   .....

.....

ii- लखनऊ विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम किस विद्वान द्वारा समाजशास्त्र विषय का अध्ययन आरम्भ किया गया?

.....

.....

iii- प्रो0 गिड्स द्वारा समाजशास्त्र विभाग की स्थापना किस विश्वविद्यालय में की गई?

.....

.....

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

i- इण्डियन सोश्योलॉजीकल सोसायटी की स्थापना ..... द्वारा की गई।

ii- पुणे विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की स्थापना ..... के साथ 1938 में हुई जिसकी प्रथम अध्यक्ष ..... थी।

iii- मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया नामक पुस्तक में भारतीय विवाह एवं परिवार के सम्बन्ध में अपने अध्ययन डॉ0 ..... द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं।

1.5 सारांश Summary

अब आप जान चुके हैं कि किस प्रकार से विश्व के विभिन्न देशों में समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास हुआ है। प्राचीन विचारक प्लेटो एवं अरस्तु की कृतियों से शुरू होकर समाजशास्त्र विभिन्न अवस्थाओं से होता हुआ वर्तमान समय तक किस प्रकार पहुँचा है तथा उसके स्वरूप में किस प्रकार परिवर्तन आता गया यह सब आपको स्पष्ट हो गया है। प्रथम अवस्था में जहाँ विभिन्न लेखों में सामाजिक जीवन के बारे में प्लेटो, अरस्तु द्वारा चर्चा की गई वहीं दूसरी ओर द्वितीय अवस्था में सामाजिक जीवन की अधिकांश व्याख्याएँ दार्शनिक तथा धार्मिक हुआ करती थीं जो धीरे–धीरे तर्क प्रधान होने लगी। तीसरी अवस्था में आगस्त कोंत द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन वैज्ञानिक विधि से करने पर जोर दिया गया। चतुर्थ अर्थात आधुनिक समय में समाजशास्त्र के अन्तर्गत व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन वैज्ञानिक विधि से किया जाने लगा है। भारत में भी 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से एक विषय के रूप में स्थापित होकर समाजशास्त्र वर्तमान समय में देश के अनेकों विश्वविद्यालयों में पढ़ा एवं पढ़ाया जा रहा है। साथ ही इस विषय से सम्बन्धित शोध कार्य भी किए जा रहे है। अतः कह सकते है कि समाजशास्त्र दिन प्रतिदिन विश्व के एवं भातर के विश्वविद्यालयों तथा विभिन्न शोध–संस्थानों में विकास की ओर अग्रसर हो रहा है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली Glossary of Terms

1. समाजशास्त्र– मानव समाज का क्रमबद्ध तथा संगठित अध्ययन करने वाला विज्ञान
2. सामुहिक प्रतिनिधित्व– प्रत्येक समूह या समाज में पाए जाने वाले उन विचारों, भावनाओं एवं धारणाओं का एक कुलक (Set) जिन पर व्यक्ति अचेतन रूप से अपने विचारो, मनोवृत्तियों एवं व्यवहार के लिए निर्भर करता है।

1.7 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए–
   i. ऑगस्त कोंत
   ii. वार्ड
   iii. मैक्स वैबर
2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–
   i. सामाजिक समूहों
   ii. सामाजिक सम्बन्धों
   iii. पॉजिटिव फिलॉसफी
   iv. सोशल फिजिक्स

बोध प्रश्न – 2

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–
   i. द रिपब्लिक
   ii. अरस्तू
   iii. ऑगस्त कोंत
2. एक शब्द में उत्तर दिजिए–
   i. येल विश्वविद्यालय, अमेरिका
   ii. दुर्खीम
   iii. ऑगस्त कोंत

बोध प्रश्न – 3

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए–
   i. प्रो0 ब्रजेन्द्र नाथ शील
   ii. राधाकमल मुखर्जी
   iii. बम्बई विश्वविद्यालय
2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–
   i. जी. एस. घुरिये
   ii. मानवशास्त्र, इरावती कर्वे
   iii. के. एम. कपाड़िया
   iv.

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विद्याभूषण तथा सचदेवा (2012) : समाजशास्त्र के सिद्धान्त, किताब महल इलाहाबाद।
2. मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ (2016) : समाजशास्त्र, एब.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. लवानिया, एम. एम. (2002) 1988 : समाजशास्त्र, रिसर्च पब्लिकेशन्स जयपुर– 2।

4. सिंह, जे0 पी0 (2002) : समाजशास्त्र के मूलतत्व ; प्रेंटिस हॉल ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली।

1.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मुकर्जी रवीन्द्रनाथ (2016) : समाजशास्त्र, एब.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. विद्याभूषण तथा सचदेवा (2012) : समाजशास्त्र के सिद्धान्त, किताब महल इलाहाबाद।
3. सिंह, जे. पी. (2002) : समाजशास्त्र के मूलतत्व ; प्रेंटिस हॉल ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली।
4. लवानिया, एम. एम. (2002) 1988 : समाजशास्त्र, रिसर्च पब्लिकेशन्स जयपुर– 2।

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1– समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास की चर्चा कीजिए।

प्र.2– समाजशास्त्र का अर्थ बताइए तथा भारतीय सन्दर्भ में समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास पर प्रकाश डालिए।

प्र.3– उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में समाजशास्त्र किस रूप में उभर कर आया इसकी विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।

इकाई– 2 समाजशास्त्रः प्रकृति तथा क्षेत्र
Sociology: Nature & Scope

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 समाजशास्त्र की प्रकृति
  2.2.1 विज्ञान का अर्थ
  2.2.2 विज्ञान की विशेषताएँ
2.3 समाजशास्त्र विज्ञान है– कैसे?
  2.3.1 समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध आपत्तियाँ
  2.3.2 समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति
2.4 समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र
  2.4.1 स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक सम्प्रदाय
  2.4.2 स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना
  2.4.3 समन्वयात्मक सम्प्रदाय
  2.4.4 समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना
2.5 समाजशास्त्र की विषयवस्तु
2.6 सारांश
2.7 पारिभाषिक शब्दावली
2.8 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर
2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा–

- समाजशास्त्र किस प्रकार एक विज्ञान है इसे समझना।
- समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध आपत्तियों को समझना।
- समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति की व्याख्या करना।
- समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को समझना।
- समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के दोनों सम्प्रदायो– स्वरूपात्मक तथा समन्वयात्मक की व्याख्या करना।

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई के प्रथम खण्ड में विज्ञान क्या है उसकी क्या–क्या विशेषताएँ है एवं समाजशास्त्र किस प्रकार एक विज्ञान है इसकी चर्चा की गई है। किसी भी विषय को विज्ञान की श्रेणी में रखने के लिए कुछ विशेषताओं का होना आवश्यक है। समाज को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास सर्वप्रथम ऑगस्त कॉम्ट द्वारा 49वीं शताब्दी में किया गया। चूँकि समाजशास्त्र एक नया विज्ञान है अतः इसके अध्ययन क्षेत्र के विषय में अनेक मत है फलस्वरूप

अलग–अलग विचारकों के मतानुसार इसके अध्ययन क्षेत्र को दो सम्प्रदायों में बॉटा गया है– स्वरूपात्मक सम्प्रदाय एवं समन्वयात्मक सम्प्रदाय। इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि एक ओर किस प्रकार स्वरूपात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान मानता है तथा दूसरी समन्वयात्मक सम्प्रदाय किस प्रकार से समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान के रूप में स्थापित करना चाहता है।

2.2 समाजशास्त्र की प्रकृति (Nature of Sociology)

विभिन्न समाजशास्त्रियों के मध्य हमेशा से इस बारे में बहस होती रही है कि समाजशास्त्र विज्ञान है अथवा नहीं। कुछ समाजशास्त्री समाजशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में रखते हैं जैसे– दुर्खीम, मैक्स वेबर, परेटो आदि। ऑगस्ट कोंत ने भी समाजशास्त्र को विज्ञान ही माना है। कुछ समाजशास्त्री इसे विज्ञान नहीं मानते है उनके अनुसार चूँकि सामाजक घटनाएँ जटिल होती हैं साथ ही बदलती रहती है इसलिए समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

2.2.1 विज्ञान का अर्थ (Meaning of Science)

सामान्यतः भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र आदि विषयों को ही विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है। क्योंकि विशेष प्रकार की विषय सामग्री को ही लोग विज्ञान की श्रेणी में रखते हैं। जबकि विज्ञान का सम्बन्ध **वैज्ञानिक पद्धति** से होता है किसी विशेष विषय सामग्री से नहीं होता है। वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त किए गए क्रमबद्ध और व्यवस्थित ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है। कार्ल पियर्सन के अनुसार, ''सभी विज्ञानों की एकता उसकी पद्धति में है न कि उसकी विषय वस्तु में।'' मार्डिण्डेल के अनुसार, ''विज्ञान का सम्बन्ध वैज्ञानिक पद्धति से है, किसी विशेष विषय–सामग्री से नहीं।'' लुण्डबर्ग के अनुसार ''विज्ञान को विषय सामग्री के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न भ्रम ही उत्पन्न करता है।'' ग्रीन ने विज्ञान को तथ्यों की खोज करने वाला तरीका कहा है।

2.2.2 विज्ञान की विशेषताएँ (Characterstics of Science)

विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. विज्ञान द्वारा **वैज्ञानिक पद्धति** का प्रयोग किया जाता है। वैज्ञानिक पद्धति एक ऐसा तरीका है जिसमें घटनाओं का अध्ययन उसी रूप में किया जाता है जैसी वे वास्तव में है।
2. विज्ञान 'क्या होना चाहिए' का नहीं बल्कि **'क्या है'** का उल्लेख करता है। इसमें कल्पना या आदर्श की बात नहीं की जाती बल्कि वास्तविक तथ्यों के बारे में ही बात की जाती है।
3. विज्ञान **कार्य–कारण सम्बन्धों** की व्याख्या करना है। विज्ञान यह जानने की कोशिश करता है कि कोई घटना किस रूप में घटित हुई, उसके पीछे क्या–क्या कारण थे तथा अलग–अलग स्थानों पर इस घटना का क्या प्रभाव पड़ा।
4. वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए अध्ययनकर्ता को तटस्थ **अवलोकन** करना चाहिए। उसे अपनी भावनाओं, अपने विचारों या पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर ही अवलोकन करना चाहिए। अवलोकन का अर्थ किसी भी घटना या तथ्य को बारीकी से देखना होता है।

5. विज्ञान की अगली विशेषता **सत्यापना** तथा **वर्गीकरण** है। अवलोकन विधि से जो भी निष्कर्ष प्राप्त होते हैं उनकी सत्यता की जाँच की जाती है जिसे सत्यापन कहते है। जो तथ्य प्राप्त होते हैं उन्हें समान विशेषताओं के आधार पर अलग–अलग रखा जाता है जिसे वर्गीकरण कहते हैं।
6. विज्ञान की अगली विशेषता **सामान्यीकरण** है। जो भी तथ्य प्राप्त हुए हैं उनके आधार पर सामान्य नियम प्रस्तुत किया जाता है जिसे सामान्यीकरण कहते है।
7. विज्ञान, सामान्यीकरण के आधार पर बनाए गए सिद्धान्तों की **परीक्षा** तथा **पुनर्परीक्षा** भी करता है।
8. विज्ञान की एक महत्वपूर्ण विशेषता **भविष्यवाणी** करने की क्षमता भी है। अध्ययनों के द्वारा जो भी निष्कर्ष हमें मिलते है उनके आधार पर भविष्य में होने वाली घटनाओं के बारे में पहले से ही अनुमान लगा लिया जाता है।

2.3 समाजशास्त्र एक विज्ञान है– कैसे? (Sociology is a science-How)

समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है इसीलिए इसे हम विज्ञान की श्रेणी में रखते हैं। किसी भी विषय को विज्ञान बनाने के लिए जिन विशेषताओं की आवश्यकता होती है वे सभी विशेषताएँ समाजशास्त्र में पाई जाती हैं जैसे–

1. समाजशास्त्रीय अध्ययनों में भी तथ्य संकलन करने के लिए भौतिक विज्ञानों की **तरह वैज्ञानिक पद्धतियों** का प्रयोग किया जाता है। जैसे– अवलोकन पद्धति, तुलनात्मक पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, समाजमिति, अनुसूची, प्रश्नावली, सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, साक्षात्कार पद्धति, मनोवृत्तियों की माप करने वाले विभिन्न पैमाने, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति आदि। दुर्खीम भी कहते हैं कि चूँकि समाजशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है अतः इसे विज्ञान मानना सही है।
2. समाजशास्त्र में सहभागी तथा असहभीगी अवलोकन पद्धति का प्रयोग करके अध्ययनकर्ता **तटस्थ रुप** से तथ्यों का संकलन करता है।
3. समाजशास्त्र विज्ञान इसलिए है क्योंकि इसमें सही परिणाम प्राप्त करने के लिए तथ्यों का **वर्गीकरण एवं विश्लेषण** किया जाता है। अध्ययन से जो भी तथ्य प्राप्त होते हैं उन्हें समान विशेषताओं के आधार पर अलग–अलग वर्गो से रख दिया जाता है जिसे वर्गीकरण कहते हैं। इसके बाद इन तथ्यों का विश्लेषण किया जाता है जैसे बाल अपराध के सभी कारणों का पता लगाकर समान कारणों को एक–एक वर्ग में रखकर यह पता लगाया जाता है कि किसी समूह में बाल अपराध के सर्वप्रमुख कारण क्या हैं?
4. समाजशास्त्र **'क्या है'** के बारे में बात करता है 'क्या होना चाहिए' के नहीं। समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं को उनके वास्तविक रूप में देखता है। जो भी सामाजिक घटना जैसी है चाहे अच्छी है या बुरी उसे उसी रूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, यदि हम महिला शिक्षा का अध्ययन करते है तो हमारा उद्देश्य महिला शिक्षा से सम्बन्धित केवल वास्तविक तथ्यों को ही प्रस्तुत करना होता है हम इस बात की चर्चा नहीं करते है कि महिला शिक्षा होनी चाहिए या नहीं। यहाँ हमारे स्वयं के विचारों अथवा आदर्शो की बात नहीं की जाती है।
5. समाजशास्त्र द्वारा विभिन्न घटनाओं, तथ्यों तथा समस्याओं के **कार्य–कारण सम्बन्धों** को जानने का प्रयास किया जाता है। एक समाजशास्त्री समाज में होने वाली किसी भी घटना अथवा समस्या के पीछे क्या कारण है उस कारण को खोजने का प्रयास करता

है। उदाहरण के लिए बेरोजगारी, निर्धनता, अपराध आदि सामाजिक समस्याऐं किन कारणों से उत्पन्न हुई यह समाजशास्त्र में अध्ययन किया जाता है।

6. समाजशास्त्र में सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है साथ ही भौतिकशास्त्र अथवा रसायनशास्त्र की भाँति इन सिद्धान्तों की **परीक्षा एवं पुनर्परीक्षा** भी की जाती है। इन सिद्धान्तों को दुबारा जाँचने के बाद यदि ये सही पाए जाते हैं तो इन्हें वैज्ञानिक सिद्धान्त मान लिया जाता है। उदाहरण के लिए यदि हम समाज में अपराधियों का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निर्धनता एवं बेरोजगारी अपराध करने के प्रमुख कारण है, तो इस सिद्धान्त को किसी भी क्षेत्र में अथवा किन्हीं भी व्यक्तियों द्वारा दुबारा जाँचा जा सकता है अथवा इनकी पुनर्परीक्षा की जा सकती है।
7. समाजशास्त्र वर्तमान के आधार पर भविष्य में 'क्या होगा' यह बताने में सक्षम है। समाजशास्त्र में भविष्यवाणी करने की क्षमता है। उदाहरण के लिए बड़ते हुए औद्योगीकरण के आधार पर समाजशास्त्र इस बात की भविष्यवाणी कर सकता है कि भविष्य में परिवारों का स्वरूप कैसा होगा, व्यवसायों में क्या परिवर्तन आऐंगे, सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार हो जाएगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र में विज्ञान की सभी विशेषताएँ अथवा तत्व पाए जाते हैं अतः इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है।

अब आप समझ गए होंगे कि विज्ञान क्या है किसी भी विषय को विज्ञान की श्रेणी में रखने के लिए किन विशेषताओं का होना आवश्यक है। चूँकी समाजशास्त्र में विज्ञान की समस्त विशेषताएँ पाई जाती है अतः इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है।

बोध प्रश्न – 1

1. सत्य/असत्य बताइए
   i. विज्ञान का सम्बन्ध वैज्ञानिक पद्धति से है।
   .....
   .....
   ii. विज्ञान क्या होना चाहिए का वर्णन करता है।
   .....
   .....
   iii. समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है।
   .....
   .....
   iv. समाजशास्त्र में तथ्यों का तटस्थ अवलोकन किया जाता है।
   .....
   .....
2. **रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।**
   i. समाजशास्त्र में ..... पद्धतियों का प्रयोग होता है।
   ii. समाजशास्त्र में तथ्यों का विश्लेषण तथा ..... किया जाता है।
   iii. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वैज्ञानिक है क्योंकि उनकी परीक्षा तथा ..... सम्भव है।

2.3.1 समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध आपत्तियाँ

अनेक विद्वान समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक नहीं मानते है वे समाजशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में भी नहीं रखते है। अब आप जानेंगे कि किस प्रकार से कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति का विरोध किया है।

1. वस्तुनिष्ठता **का अभाव–** समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरोध में यह बात कही जाती है कि समाजशास्त्रीय अध्ययनों में वस्तुनिष्ठता का अभाव पाया जाता है तथा पक्षपात की सम्भावना हमेशा बनी रहती है। चूँकि अध्ययनकर्ता जिस समाज, समूह, समुदाय, जाति आदि का अध्ययन करता है उसका वह स्वयं भी सदस्य होता है फलस्वरूप उसके व्यक्तिगत विचार, पूर्वाग्रह, व्यक्तिगत द्वेष अथवा प्रेम इन सभी से समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रभावित होते हैं तथा वास्तविक परिणाम सामने नहीं आ पाते हैं।

   मूल्यांकन– समाजशास्त्र में अनेक ऐसी पद्धतियाँ तथा प्रविधियाँ पाई जाती है जिनका प्रयोग करके विभिन्न सामाजिक घटनाओं का निष्पक्षता के साथ वास्तविक अध्ययन किया जा सकता है।

2. **सामाजिक घटनाओं की परिवर्तनशीलता तथा जटिलता–** समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरोध में यह कहा जाता है कि सामाजिक घटनाएँ बदलती रहती है। सामाजिक व्यवस्था, परम्पराएँ, परिवार का स्वरूप आदि जैसे पहले या आज उसी रूप में नहीं पाया जाता है। साथ ही अमूर्त होने के कारण ये इतनी जटिल होती है कि इनका वैज्ञानिक अध्ययन करना कठिन है। समाज में विभिन्न लोगों के बीच जो भी सम्बन्ध पाए जाते है वे अनेक कारणों से प्रभावित होते हैं और बदलते रहते हैं फलस्वरूप उनके वास्तविक स्वरूप को जानना कठिन हो जाता है।

   मूल्यांकन– सच तो यह है कि यदि विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग करके तथा सामाजिक घटनाओं के बारे में पूरी तरह से ज्ञान प्राप्त करके सामाजिक अध्ययन किए जाते हैं तो परिवर्तनशीलता एवं जटिलता वैज्ञानिक अध्ययनों में बाधक नहीं बन पाती है। जिस प्रकार से प्राकृतिक घटनाओं का अध्ययन उनके बार–बार बदलने के बाद भी सम्भव होता है उसी प्रकार सामाजिक घटनाओं का भी अध्ययन बदलती हुई परिस्थितियों में सम्भव है।

3. **सामाजिक घटनाओं तथा तथ्यों की माप में कठिनाई–** समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रवृति का विरोध करने वाले विद्वानों का कहना है कि जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान एवं भौतिक विज्ञानों को मापा जा सकता है वैसे सामाजिक घटनाओं की माप सम्भव नहीं है क्योंकि इनकी प्रकृति अमूर्त एवं गुणात्मक है। सामाजिक घटनाओं की लम्बाई, चौड़ाई, भार आदि का नाप तौल करना संभव नहीं है।

   मूल्यांकन– सच तो यह है कि तथ्यों को मापने की क्षमता ही विज्ञान की आवश्यक विशेषता नहीं है। साथ ही समाजशास्त्र में अनेक ऐसी पद्धतियों एवं प्रविधियों का विकास हो रहा है जिनके द्वारा सामाजिक घटनाओं का संख्यात्मक एवं गुणात्मक मापन संभव हो सके।

4. **समाजशास्त्र में प्रयोगशाला का अभाव–** समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति का विरोध करने वाले विद्वानों का कहना है कि प्राकृतिक विज्ञान जिस प्रकार अपनी प्रयोगशाला में नियंत्रित दशाओं में प्रयोग करके वैज्ञानिक निष्कर्ष प्राप्त करते हैं वैसा समाजशास्त्र में संभव नहीं है। चूँकि समाजशास्त्र के पास अपनी कोई प्रयोगशाला नहीं होती है अतः उसके अध्ययनों से प्राप्त परिणामों एवं नियमों में प्रमाणिकता, यथार्थता एवं निश्चितता का अभाव पाया जाता है फलस्वरूप इस प्रकार के अध्ययन वैज्ञानिक नहीं होते हैं।
मूल्यांकन– यह सच है कि समाजशास्त्र में बन्द प्रयोगशाला में अध्ययन नहीं किए जाते हैं किन्तु साथ ही यह भी सच है कि समाजशास्त्र की प्रयोगशाला सम्पूर्ण समाज है। चूँकि समाजशास्त्र की विषय–वस्तु इस प्रकार की होती है उसका अध्ययन एक प्रयोगशाला के अन्दर ही बन्द कमरे में नहीं किया जा सकता बल्कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन तो उनके चारों तरफ की स्वाभाविक परिस्थितियों में ही सम्भव हैं। अतः प्रयोगशाला के अभाव में किए जाने वाले समाजशास्त्रीय अध्ययनों को अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है।

5. **समाजशास्त्रीय अध्ययनों में सर्वाभौमिकता का अभाव–** समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरोध में यह कहा जाता है कि सामाजिक घटनाएँ सार्वभौमिक नहीं होती हैं तथा उनमें समानता या एकरूपता नहीं पाई जाती है। समाज में होने वाली घटना अलग–अलग स्थानों पर एक दूसरे से अलग–अलग होती है। किसी एक समाज अथवा क्षेत्र से प्राप्त निष्कर्ष दूसरे समाज अथवा क्षेत्र पर लागू नहीं किए जाते है। इस प्रकार सामाजिक घटनाओं की असमान प्रकृति के कारण उनसे सम्बन्धित सार्वभौमिक नियमों को नहीं बनाया जा सकता हैं जबकि प्राकृतिक घटनाओं में सार्वभौमिक नियमों को बनाया जा सकता है क्योंकि ये सभी स्थानों पर समान प्रकृति की होती है।
मूल्यांकन– चूँकि सामाजिक इकाईयों में भिन्नता के साथ–साथ समानता भी पाई जाती है अतः हम यह नहीं कह सकते है कि समाज में सार्वभौमिकता एवं एकरूपता बिल्कुल नहीं पाई जाती है। साथ ही सामाजिक अनुसंधानकर्ता वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करके तथ्यों को एकत्रित करता है और एक समानता के लिए कोई निष्कर्ष प्राप्त करता है जिससे उसके निष्कर्ष के आधार पर अन्य समाजों से सम्बन्धित प्रवृत्तियों को जानने में सुविधा हो जाती है।
6. **समाजशास्त्र भविष्यवाणी करने में समर्थ नहीं है–** समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरोध में यह कहा जाता है कि समाजशास्त्रीय नियम भविष्यवाणी करने में सक्षम नहीं होते है। सामाजिक घटनाएँ तेजी से बदलती रहती है फलस्वरूप सामाजिक घटनाओं के बारे में निश्चित भविष्यवाणी करना संभव नहीं होता हैं।
मूल्यांकन– सामाजिक नियमों की तरह प्राकृतिक नियम भी बदलते रहते है। साथ ही भविषवाणी करने की सीमित योग्यता समाजशास्त्र के साथ–साथ प्राकृतिक एवं भौतिक विज्ञानों में भी पाई जाती है। प्राकृतिक एवं भौतिक नियम भी कई परिस्थितियों में असत्य प्रमाणित होते हैं किन्तु फिर भी वे विज्ञान कहलाते है जैसे मौसम विभाग द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ अनेक बार गलत प्रमाणित होती है किन्तु फिर भी वह एक विज्ञान है (गुप्ता एवं शर्मा, पृ0– 45)

2.3.2 समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति

अपनी पुस्तक 'द सोशल ऑर्डर' में रॉबर्ट बीरस्टीड ने समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति को निम्नलिखित प्रकार से बताया है–

1. **समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, न कि प्राकृतिक–** चूँकि समाजशास्त्र, प्राकृतिक एंव भौतिक घटनाओं का अध्ययन नहीं करता है अतः इसे प्राकृतिक विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जाता है। समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान इसलिए है क्योंकि इसमें सामाजिक घटनाओं, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक समूहों, सामाजिक प्रक्रियाओं एवं सामाजिक समस्याओं का ही अध्ययन किया जाता है।
2. **समाजशास्त्र वास्तविक अथवा प्रत्यक्षवादी विज्ञान है न कि** आदर्शात्मक– समाजशास्त्र में पक्षपात–रहित होकर केवल उन्हीं सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है जिन्हें प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। समाजशास्त्र 'क्या है' का अध्ययन करता है 'क्या होना चाहिए' का नहीं यह सामाजिक घटनाओं को अच्छा–बुरा या सही–गलत नहीं कहता है और न ही आर्दशवादी बातें करता है बल्कि सामाजिक घटनाओं के प्रति तटस्थ रहता है। सामाजिक घटनाएँ जैसी हैं उन्हें उसी रूप में देखता है एवं प्रस्तुत करता है।
3. **समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है, व्यवहारिक विज्ञान नहीं है–** समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है इसीलिए यह सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है एवं उनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। किन्तु इस ज्ञान को या सिद्धान्तों को वह प्रयोग में नहीं लाता है। समाजशास्त्र केवल सिद्धान्त बनाता है इन सिद्धान्तों का व्यवहार में उपयोग अन्य शास्त्र जैसे सामाजिक कार्य, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि करते हैं।
4. **समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है, मूर्त विज्ञान नहीं है–** समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है जो दिखाई नहीं देते हैं अर्थात जिनकी प्रकृति अमूर्त है। इसीलिए समाजशास्त्र को अमूर्त विज्ञान कहते है। यह भौतिक वस्तुओं अथवा मूर्त चीजें जो दिखाई देती है का अध्ययन नहीं करता है जैसे जीवन जन्तु, पेड़–पौधे, कुर्सी–मेज व्यक्ति आदि।
5. **समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है न कि विशेष विज्ञान–** समाजशास्त्र समाज की सभी घटनाओं का अध्ययन सामान्य रूप से करता है। समाजशास्त्र उन सामान्य नियमों का अध्ययन करता है जो विभिन्न सामाजिक घटनाओं से सम्बन्धित होते हैं। अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास अथवा भूगोल की तरह कि विशेष घटना, व्यक्ति अथवा कारक के अध्ययन में ही रूचि नहीं लेता है।
6. **समाजशास्त्र एक तार्किक तथा अनुभवसिद्ध विज्ञान है–** समाजशास्त्र द्वारा किए जाने वाले अध्ययन तर्क पर एवं अनुभव पर आधारित होते हैं अर्थात यह कार्य क्षेत्र में जाकर प्राथमिक रूप से प्राप्त तथ्यों का अध्ययन करता है उदाहरण के लिए महिला शिक्षा की वास्तविकता जानने के लिए जब हम स्वयं महिलाओं से मिलकर उनसे सूचनाएँ प्राप्त करते हैं तो इन सूचनाओं को ही अनुभवसिद्ध तथ्य कहते है। साथ ही ये तथ्य तार्किक भी होते है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र एक प्रत्यक्षवादी, विशुद्ध, अमूर्त, सामान्य, तार्किक तथा अनुभवसिद्ध विज्ञान है।

बोध प्रश्न – 2

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए–
   i. समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति को अपनी पुस्तक 'द सोशल ऑर्डर' में किस विद्वान ने स्पष्ट किया है?

   .....

   .....

   ii. समाजशास्त्र की प्रकृति कैसी है?

   .....

   .....

2. **सत्य तथा असत्य बताइए–**
   i. समाजशास्त्र भविष्यवाणी करने में सक्षम है।

   .....

   .....

   ii. समाजशास्त्रीय अध्ययनों में बन्द प्रयोगशाला का उपयोग किया जाता है।

   .....

   .....

   iii. समाजशास्त्र एक मूर्त विज्ञान है।

   .....

   .....

   iv. समाजशास्त्र एक तार्किक तथा अनुभवसिद्ध विज्ञान है।

   .....

   .....

2.4 समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र

अब तक आप जान चुके हैं कि विज्ञान क्या है, वैज्ञानिक पद्धति किसे कहते हैं, तथा समाजशास्त्र किस प्रकार एक विज्ञान है एवं समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक होती है। अब आप जानेंगे कि समाजशास्त्र का अध्ययन–क्षेत्र क्या है? अध्ययन क्षेत्र का अर्थ वे अनुमानित सीमाएँ है जिनके अन्तर्गत किसी विषय या विज्ञान का अध्ययन किया जा सकता है। समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के बारे में विद्वानों में मतभेद रहा है। फलस्वरूप विभिन्न विद्वानों के मतों के आधार पर समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को दो भागों में बाँटा जा सकता है– (4) स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक सम्प्रदाय (2)– समन्वयात्मक सम्प्रदाय। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समाजशास्त्र को विशेष सामाजिक विज्ञान मानता है तथा इसके अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों के विशेष स्वरूपों का अध्ययन करने पर जोर देता है। दूसरी ओर **समन्वयात्मक सम्प्रदाय** समाजशास्त्र को एक सामान्य सामाजिक विज्ञान मानता है तथा इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का सामान्य अध्ययन करने पर जोर देता है।

2.4.1 स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक सम्प्रदाय

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समर्थक समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान के रूप में स्थापित करना चाहते है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक जर्मन समाजशास्त्री **जार्ज सिमेल** है। साथ ही **वीरकान्त, वॉन विज, मैक्स वेबर** तथा **टॉनीज** आदि विद्वानों ने भी इस सम्प्रदाय का समर्थन किया हैं।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समर्थक मानते हैं कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है इसीलिए इसका अध्ययन क्षेत्र सीमित होना चाहिए। समाज में सामाजिक सम्बन्ध इतने ज्यादा होते हैं कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत सभी प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन करके इसे विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इसीलिए समाजशास्त्र के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का ही अध्ययन करना चाहिए तभी समाजशास्त्र अन्य विज्ञानों जैसे राजनीतिशास्त्र, भूगोल, अर्थशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि के समान एक स्वतन्त्र एवं विशिष्ट विज्ञान बन पाएगा। इस सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वानों के विचारों के आधार पर हम समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को निम्नलिखित प्रकार से समझ सकते है–

1. **जार्ज सिमेल के विचार–** जार्ज सिमेल ने समाजशास्त्र को एक विशिष्ट **विज्ञान** के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है। इनके अनुसार समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों के **स्वरूपों** का ही अध्ययन किया जाना चाहिए। सिमेल कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु के दो भाग होते हैं– स्वरूप तथा अन्तर्वस्तु। ये दोनों ही स्वरूप तथा अन्तर्वस्तु एक दूसरे से पूरी तरह से अलग होते है। किसी भी वस्तु के स्वरूप तथा अन्तर्वस्तु का अलग–अलग रूप से अध्ययन किया जा सकता है। किसी भी बर्तन के बाहरी आकार को स्वरूप कहते हैं तथा उसके अन्दर रखी हुई वस्तु को उसकी अन्तर्वस्तु कहा जाता है। यह सम्भव है कि तीन एक ही आकार (स्वरूप) वाले बर्तनों में अलग–अलग वस्तु (अन्तर्वस्तु) रखी हो। स्पष्ट है कि स्वरूप तथा अन्तर्वस्तु एक दूसरे से अलग–अलग होते हैं तथा इन दोनों का ही अलग–अलग रूप से अध्ययन किया जा सकता है। इसी प्रकार सामाजिक सम्बन्धों के भी स्वरूप तथा अन्तर्वस्तु अलग–अलग होती है। अनुकरण प्रतिस्पर्द्धा, सहयोग, अधीनता, प्रभुत्ता, श्रम विभाजन आदि सामाजिक सम्बन्धों के प्रमुख स्वरूप है। सिमेल के अनुसार समाजशास्त्री को सामाजिक सम्बन्धों के इन्हीं स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए। आर्थिक संघ, धार्मिक संघ, राजनैतिक प्रतिस्पर्धा आदि सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु है। जिनका अध्ययन समाजशास्त्र के अन्तर्गत नहीं किया जाता है बल्कि अन्य सामाजिक विज्ञानों जैसे अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है अब आप समझ गए होंगे कि सिमेल कहते हैं कि समाजशास्त्र को केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का ही अध्ययन करना चाहिए, अन्तर्वस्तुओं का नहीं।
2. **वीरकान्त के विचार–** वीरकान्त भी समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाना चाहते है। वे कहते है कि समाजशास्त्र को उन **मानसिक सम्बन्धों** के स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए जो व्यक्तियों एवं समूहों को एक दूसरे से बाँधते है। प्रेम, सहयोग, घृणा, ईष्या, स्नेह, सम्मान आदि को वीरकान्त मानसिक सम्बन्ध कहते है जो विभिन्न व्यक्तियों को एक दूसरे के समीप लाते है। वीरकान्त समाजशास्त्र में इसी तरह के मानसिक सम्बन्धों का अध्ययन करने की बात कहते है।
3. **मैक्स वेबर के विचार–** मैक्स वेबर भी समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाना चाहते हैं इसीलिए वे कहते है कि समाजशास्त्र में केवल **सामाजिक क्रियाओं** का ही अध्ययन करना चाहिए। उनके अनुसार सामाजिक क्रियाओं का ही अध्ययन करना चाहिए। यदि समाजशास्त्र के अन्तर्गत इन सभी सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाए तो इसका क्षेत्र अस्पष्ट एवं असीमित हो जाएगा। इसीलिए उन्होंने समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन तक ही सीमित रखा है। वेबर कहते

हैं कि वे क्रियाएँ जो दूसरों के व्यवहारों से प्रभावित होती हैं तथा साथ ही अर्थपूर्ण होती है उन्हीं क्रियाओं को सामाजिक क्रिया कहा जाता है।

इनके अतिरिक्त वॉन विज तथा टॉनीज भी समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का ही अध्ययन करने पर जोर देते हैं जिससे इसे विशिष्ट विज्ञान बनाया जा सके। वॉन विज कहते हैं कि 'समाजशास्त्र, एक विशिष्ट सामाजिक विज्ञान है जो कि मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन है और यही उसका विशिष्ट क्षेत्र है। इन्होंने सामाजिक सम्बन्धों के 650 स्वरूपों की चर्चा की है जिनका अध्ययन समाजशास्त्र के अन्तर्गत करना चाहिए। टॉनीज ने 'विशुद्ध समाजशास्त्र' की बात कही है। उनके अनुसार समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में दूसरे सामाजिक विज्ञानों की विषय–वस्तु को शामिल नहीं करना चाहिए तभी हम 'विशुद्ध समाजशास्त्र' को स्थापित कर पाऐंगे जो अन्य सामाजिक विज्ञानों से पूरी तरह स्वतन्त्र होगा।

स्पष्ट है कि स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के सभी समर्थक समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाना चाहते है इसीलिए वे इसके अध्ययन क्षेत्र में सामाजिक सम्बन्धों के विशेष स्वरूपों का ही समावेश करने की बात करते है।

2.4.2 स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समर्थकों ने समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को विशिष्ट बनाने हेतु जो भी तर्क दिये हैं उन पर अनिश्चितता एंव अस्पष्टता का आरोप लगाते हुए विभिन्न विद्वानों ने इनकी आलोचना की है तथा निम्नलिखित कमियाँ बताई है–

1. स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समर्थक कहते हैं कि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन किसी अन्य सामाजिक विज्ञान के द्वारा नहीं किया जाता है इसीलिए समाजशास्त्र को एक नए विज्ञान के रूप में इनका अध्ययन करना चाहिए। यह बात सही नहीं है क्योंकि कानूनशास्त्र में स्वामित्व, आज्ञापालन, दासता, संघर्ष आदि का अध्ययन बहुत पहले से ही अत्यन्त व्यवस्थित एवं स्पष्ट रूप में किया जा चुका है।
2. स्वरूपात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों से अलग करके उसे एक स्वतन्त्र तथा विशुद्ध विज्ञान बनाना चाहता है, जो सम्भव नहीं है। क्योंकि सभी सामाजिक विज्ञान एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, एक दूसरे पर निर्भर होते हैं एवं एक दूसरे से कुछ न कुछ ग्रहण करते हैं।
3. स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समर्थक मानते है कि स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु को एक दूसरे से अलग करके उनका पृथक–पृथक अध्ययन किया जाता है। जबकि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु को अलग–अलग करना संभव नहीं है। इसीलिए समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप के अध्ययन तक सीमित करना सही नहीं है।

2.4.3 समन्वयात्मक सम्प्रदाय

समन्वयात्मक सम्प्रदाय के समर्थक समाजशास्त्र को एक **सामान्य विज्ञान** के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। **सोरोकिन, दुर्खीम, हॉबहाउस** तथा **गिन्सबर्ग** आदि इस सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक है। इन विद्वानों का कहना है कि समाजशास्त्र को सम्पूर्ण समाज का सामान्य अध्ययन

करना है अतः इसके क्षेत्र को मात्र सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में इन विद्वानों ने निम्नलिखित दो तर्क प्रस्तुत किए हैं–

1. एक जीवधारी (मनुष्य, जानवर आदि) के समान समाज के विभिन्न अंग एक दूसरे से अलग होते हुए भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते है तथा एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। जिस प्रकार जीवधारी के किसी एक अंग में परिवर्तन होने पर अन्य अंग भी प्रभावित होते है उसी प्रकार सामाजिक जीवन के भी किसी एक पक्ष में बदलाव आने पर अन्य पक्ष भी प्रभावित होने लगते हैं इसीलिए यह आवश्यक है कि समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का समग्र रूप में अध्ययन करें।
2. अन्य सामाजिक विज्ञान जैसे अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष का ही अध्ययन करते है। जैसे अर्थशास्त्र केवल समाज की आर्थिक क्रियाओं एवं राजनीतिशास्त्र केवल राजनैतिक पक्ष का ही अध्ययन करता है। ऐसा कोई भी सामाजिक विज्ञान नहीं है जो सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन करता है। अतः समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन सामान्य रूप से करना चाहिए।

इस सम्प्रदाय के प्रमुख विचारकों ने निम्नलिखित प्रकार से अपने विचार प्रस्तुत किए हैं–

1. **दुर्खीम के विचार–** दुर्खीम कहते हैं कि ''समाजशास्त्र सामुहिक प्रतिनिधानों का विज्ञान है।'' सामूहिक प्रतिनिधान सम्पूर्ण समाज की सामान्य विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं। इन सामूहिक प्रतिनिधानों का अध्ययन करके समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का सामान्य अध्ययन कर सकता है।
2. **सॉरोकिन के विचार–** सॉरोकिन कहते है कि कोई भी सामाजिक विज्ञान पूरी तरह से स्वतन्त्र एवं विशुद्ध नहीं होता है बल्कि सभी एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। अन्य सामाजिक विज्ञान सामाजिक सम्बन्धों के मात्र एक ही पक्ष का अध्ययन करते हैं जबकि समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों या उनके सामान्य तत्वों का अध्ययन करता है। सॉरोकिन इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण देते है–

सामाजिक विज्ञान	अर्थ क्षेत्र
अर्थशास्त्र	a, b, c, d, e, f
राजनीतिशास्त्र	a, b, c, g, h, i
धर्मशास्त्र	a, b, c, j, k, l
कानूनशास्त्र	a, b, c, m, n, o
मनोरंजनात्मक सम्बन्ध	a, b, c, p, q, r

उपरोक्त उदाहरण से सॉरोकिन ने बताया है कि अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि सभी विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों में a, b, c, जैसे कुछ सामान्य तत्व अवश्य होते हैं। इन्हीं सामान्य तत्वों अथवा सामाजिक अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है।

3. **हॉबहाउस के विचार–** हॉबहाउस भी इस बात का समर्थन करते है कि समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र सामान्य होना चाहिए। हॉबहाउस के अनुसार समाजशास्त्र का कार्य

विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के सिद्धान्तों से सामान्य तत्वों का पता लगाकर उनका सामान्यीकरण करना है। इसके लिए समाजशास्त्र उन कारकों का अध्ययन करता है जो सामाजिक स्थिरता तथा परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते हैं। साथ ही विभिन्न सामाजिक विज्ञानों की प्रमुख धारणाओं के सामान्य स्वरूपों की जानकारी प्राप्त करता हैं एवं सामाजिक विकास की प्रवृत्ति एवं दशाओं का अध्ययन करता है।

2.4.4 समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना

विभिन्न विद्वानों ने समन्वयात्मक सम्प्रदाय की निम्नलिखित रूप से आलोचना की है–

1. समाजशास्त्र में यदि सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों या तथ्यों का अध्ययन किया जाएगा तो वह सभी समाजिक विज्ञानों की खिचड़ी मात्र रह जाएगा।
2. समाजशास्त्र को यदि एक सामान्य विज्ञान बनाया जाता है तो इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों पर आश्रित रहना पड़ेगा। इसका अपना कोई स्वतन्त्र क्षेत्र नहीं रहेगा।
3. समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में यदि सभी सामाजिक सम्बन्धों, तथ्यों या प्रघटनाओं को शामिल किया जाता है तो यह किसी भी एक तथ्य या घटना का पूरी तरह से अध्ययन नहीं कर पाएगा।

समाजशास्त्र के अध्ययन–क्षेत्र के सम्बन्ध में स्वरूपात्मक एवं समन्वयात्मक दोनों ही सम्प्रदायों के दृष्टिकोणों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में दोनों ही दृष्टिकोणों का समावेश है। समाजशास्त्र पूरी तरह से न तो एक विशेष विज्ञान है जिसमें सामाजिक सम्बन्धों के कुछ विशेष स्वरूपों का ही अध्ययन किया जाता है और न ही पूरी तरह से एक सामान्य विज्ञान है जिसमें सामाजिक सम्बन्धों के सभी स्वरूपों का सामान्य रूप से अध्ययन किया जाता है, बल्कि इसके अन्तर्गत विशिष्ट तथा सामान्य सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।

अब आप जान चुके हैं कि समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र क्या है? किस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने विचारों के आधार पर इसके अध्यन क्षेत्र को स्वरूपात्मक तथा समन्वयात्मक दो प्रकार के सम्प्रदायों में विभाजित किया है।

बोध प्रश्न 3–

1. सही उत्तर बताइए–
   i- स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक निम्नलिखित में से कौन है?
   अ– मीड ब– जार्ज सिमेल स– हॉबहाउस द– दुर्खीम
   .....
   .....
   ii- समन्वयात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक निम्नलिख्खित में से कौन है?
   अ– मैक्स वेबर ब– वीरकान्त स– सोरोकिन द– सीमेल
   .....
   .....
2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

i. ..... सम्प्रदाय के समर्थक समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान के रूप में स्थापित करना चाहते हैं।

ii. ..... सम्प्रदाय के समर्थक समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान के रूप में स्थापित करना चाहते हैं।

iii. ..... ने प्रत्येक वस्तु को दो भागों– स्वरूपों तथा अन्तर्वस्तु में विभाजित किया है एवं समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों के ..... का अध्ययन करने पर बल दिया है।

iv. दुर्खीम ने समाजशास्त्र को ..... का विज्ञान कहा है।

2.5 समाजशास्त्र की विषयवस्तु

अब आप जानेंगे कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत किन–किन विषयों का अध्ययन किया जाता है अर्थात समाजशास्त्र की वास्तविक विषय वस्तु क्या है। विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु के सन्दर्भ में अलग–अलग प्रकार से विवेचना की है जिसे हम इस खण्ड में जानेंगे।

1. **दुर्खीम के विचार–** इमाइल दुर्खीम समाजशास्त्र की विषयवस्तु सामाजिक तथ्यों को मानते हैं। इन्होंने समाजशास्त्र की विषय वस्तु को निम्नलिखित तीन भागो में बाँटा है–
   i. **सामाजिक** स्वरूपशास्त्र– इसके अन्तर्गत मानव जीवन के भौगोलिक आधार, सामाजिक जीवन के प्रकार, स्वरूप तथा संगठन का निर्माण करने वाले विषयों का अध्ययन किया जाता है। जैसे– भौगोलिक परिस्थितियों का सामाजिक जीवन पर प्रभाव, किसी स्थान की जनसंख्या कितनी है तथा जनसंख्या घनत्व का सामाजिक जीवन पर प्रभाव आदि।
   ii. **सामाजिक** शरीरशास्त्र– इसके अन्तर्गत समाज रूपी शरीर अथवा ढाँचे का निर्माण करने वाली इकाइयों का अध्ययन किया जाता है। ये इकाइयाँ समाज का निर्माण तो करती ही है साथ ही अपने कार्यो द्वारा इसे व्यवस्थित भी बनाए रखती है। अध्ययन की सुविधा के लिए इसे अनेक उप–भागों में बाँटा जाता है जैसे– कानून का समाजशास्त्र, धर्म का समाजशास्त्र, परिवार का समाजशास्त्र, भाषा का समाजशास्त्र आदि।
   iii. **सामान्य** समाजशास्त्र– इसके अन्तर्गत उन सामान्य सामाजिक नियमों का अध्ययन किया जाता है जो सामाजिक जीवन को निरन्तरता तथा स्थिरता प्रदान करते हैं।

2. **गिन्सबर्ग के विचार–** गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा है–
   i. **सामाजिक** स्वरूपशास्त्र– दुर्खीम की तरह गिन्सबर्ग ने भी सामाजिक स्वरूपशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाले विषयों को रखा है। जैसे– जनसंख्या के गुण तथा आकार। इसके साथ ही समाज का निर्माण करने वाले सामाजिक समूह, संस्थाओं तथा समितियों के प्रमुख स्वरूपों का भी इसके अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।
   ii. **सामाजिक नियन्त्रण–** इसके अन्तर्गत उन विषयों को सम्मिलित किया गया है जो सामाजिक जीवन में नियंत्रण रखने के लिए आवश्यक होते हैं जैसे– धर्म, कानून, नीति, परम्परा, नैतिकता, विश्वास आदि।

iii. **सामाजिक प्रक्रियाएँ–** समाज के अन्तर्गत लोगों के मध्य तथा विभिन्न समूहों के मध्य पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है जैसे– सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, अनुकूलन, अनुकरण, समायोजन आदि।

iv. **सामाजिक व्याधिकी–** गिन्सबर्ग के अनुसार समाजशास्त्र के अन्तर्गत उन विषयों का भी अध्ययन किया जाता है जो समाज को असंगठित अथवा विघटित करते है। जैसे– अपराध, बाल–अपराध, बेरोजगारी, निर्धनता, आत्महत्या, भ्रष्टाचार आदि।

3. **केरन्स के विचार–** केरन्स ने समाजशास्त्र की विषय–वस्तु को छः भागों में बाँटा है–

i. **मानवीय क्रियाएँ–** समस्त शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं को केरन्स ने मानवीय क्रियाओं के अन्तर्गत रखा है जिनका अध्ययन समाजशास्त्र द्वारा किया जाता है।

ii. **सामाजिक संस्थाएँ–** केरन्स के अनुसार समाजशास्त्र में विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करना चाहिए। ये संस्थाएँ समाज को संचालित करती हैं तथा सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यवहारों को प्रभावित करती है। जैसे– आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संस्थाएँ आदि।

iii. **सामाजिक नियन्त्रण–** केरन्स के अनुसार समाज के सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने वाले विभिन्न साधनों का अध्ययन भी समाजशास्त्र के अन्तर्गत किया जाना चाहिए। जैसे– धर्म, प्रथा, कानून आदि।

iv. **सामाजिक परिवर्तन–** केरन्स के अनुसार समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों का अध्ययन किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए समाज में परिर्वन लाने वाले आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, प्रौद्योगिक, जैविकीय कारकों का अध्ययन भी समाजशास्त्र की विषय वस्तु है।

v. **सामाजिक संहिताएँ–** वैसे तो सामाजिक संहिताएँ सामाजिक नियन्त्रण के साधनों के अन्तर्गत ही आ जाती है किन्तु आधुनिक जटिल समाजों में लोगों के व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए राजनीतिक संहिताओं अर्थात विभिन्न कानूनों का अत्यधिक महत्व होता है ये समाज में लिखित तथा औपचारिक नियम है। इनका अध्ययन भी समाजशास्त्र के अन्तर्गत करना चाहिए।

4. **सारोकिन के विचार–** सोरोकिन ने समाजशास्त्र की विषय वस्तु को निम्नलिखित तीन भागों में बॉटा है–

i. विभिन्न सामाजिक घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध तथा सह–सम्बन्धों का अध्ययन करना। जैसे– धार्मिक और आर्थिक, पारिवारिक और आचार सम्बन्धी, आर्थिक और कानूनी घटनाओं के सम्बन्धों का अध्ययन।

ii. सामाजिक और गैर–सामाजिक घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का तथा सह–सम्बन्धों का अध्ययन, जैसे– भौगोलिक तथा जैविकीय घटनाओं का सामाजिक जीवन से सम्बन्ध का अध्ययन।

iii. समाज में पाई जाने वाली सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करना।

5. **रयूटर तथ हार्ट के विचार–** इन्होंने समाजशास्त्र की विषय वस्तु में निम्नलिखित तीन बातों को सम्मिलित किया है–

i. सामाजिक विरासत

ii. व्यक्तित्व एवं उसका विकास

iii. समाजिक प्रक्रियाएँ

6. ऐलेक्स इंक्लेस ने समाजशास्त्र की विषय वस्तु के संदर्भ में निम्नलिखित रूपरेखा प्रस्तुत की है–

I. समाजशास्त्रीय विश्लेषण
   i. मानव–संस्कृति तथा समाज
   ii. समाजशास्त्रीय संदर्भ
   iii. सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति

II. सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाइयाँ
   i. सामाजिक क्रिया तथा सामाजिक सम्बन्ध
   ii. मानव का व्यक्तित्व
   iii. समूह (प्रजाति तथा वर्ग सहित)
   iv. समुदाय (नगरीय तथा ग्रामीण)
   v. समितियाँ तथा संगठन
   vi. समाज

III. आधारभूत सामाजिक संस्थाएँ
   i. परिवार एवं नातेदारी
   ii. आर्थिक संस्थाएँ
   iii. राजनीतिक तथा वैधानिक संस्थाएँ
   iv. धार्मिक संस्थाएँ
   v. शैक्षणिक और वैज्ञानिक संस्थाएँ
   vi. मनोरंजनात्मक और कल्याणकारी संस्थाएँ
   vii. कलात्मक और सौन्दर्यात्मक संस्थाएँ

IV. मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएँ
   i. विभेदीकरण और स्तरीकरण
   ii. सहयोग, समायोजन और सात्मीकरण
   iii. सामाजिक संघर्ष (क्रान्ति तथा युद्ध)
   iv. संचार (जनमत निर्माण तथा परिवर्तन सहित)
   v. सामाजीकरण तथा सैद्धान्तिकरण
   vi. सामाजिक मूल्यांकन (सामाजिक मूल्यों का अध्ययन)
   vii. सामाजिक अध्ययन (अपराध, आत्महत्या आदि)
   viii. सामाजिक एकीकरण
   ix. सामाजिक परिवर्तन

यद्यपि उपरोक्त तालिका में समाजशास्त्र की विषयवस्तु के अन्तर्गत लगभग सभी प्रमुख विशेषताएँ सम्मिलित हैं। तथापि हम समाजशास्त्र की विषय वस्तु की कुछ सीमाएँ निर्धारित नहीं कर सकते हैं। चूँकि समाजशास्त्र एवक गतिशील विज्ञान है अतः इसमें परिवर्तनों की संभावना हमेशा बनी रहेगी। यदि सामाजिक समस्याओं के स्वरूपों में बदलाव आऐगा तो समाजशास्त्र की विषय वस्तु में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। किन्तु फिर भी निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र की विषय वस्तु के अन्तर्गत अध्ययन किए जाने वाले विषयों का आधार सामाजिक सम्बन्ध ही होते हैं। इस विषय में मैकाइवर तथा पेज भी कहते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है। वॉनवीन के अनुसार, ''समाजशास्त्र को मानवीय सम्बन्धों के व्यवस्थित ज्ञान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।''

2.6 सारांष

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके हैं कि किस प्रकार से समाजशास्त्र एक विज्ञान है तथा इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है यद्यपि इसे प्राकृतिक विज्ञानों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। साथ ही आपको यह भी स्पष्ट हो गया है कि किस प्रकार से समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के विषय में विभिन्न विद्वानों के बीच मतान्तर है। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के विचारकों ने समाजशास्त्र को विशिष्ट विज्ञान के रूप में स्थापित करने के लिए किस प्रकार से तर्क प्रस्तुत किए है तथा समन्वयात्मक सम्प्रदाय के समर्थक किस प्रकार से समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते है। साथ ही अब आपको स्पष्ट हो गया है कि समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में 'विशिष्टता' तथा 'सामान्यता' दोनों का ही अध्ययन किया जाता है अतः यह दोनों ही सम्प्रदायों का मिश्रित रूप है।

2.7 शब्दावली

1. सामुहिक प्रतिनिधान– प्रत्येक समूह या समाज में पाए जाने वाले उन विचारो, भावनाओं एवं धारणाओं का एक कुलक (Set) जिन पर व्यक्ति अचेतन रूप से अपने विचारों, मनोवृत्तियों एवं व्यवहारों के लिए निर्भर करता है।
2. वस्तुनिष्ठता– अपने स्वयं के विचारों पूर्वाग्रहों, भावनाओं, विश्वासों से हटकर जो घटना जैसी है उसे उसी रूप में देखना तथा उसकी विवेचना करना ही वस्तुनिष्ठता कहलाती है।

2.8 बोध प्रष्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

i. सत्य
ii. असत्य
iii. सत्य
iv. सत्य

1.

i. वैज्ञानिक
ii. वर्गीकरण
iii. पुनर्परीक्षा

बोध प्रश्न – 2

1.

i. रॉबर्ट बीरस्टीड
ii. वैज्ञानिक

2.

i. सत्य
ii. असत्य
iii. असत्य
iv. सत्य

बोध प्रश्न – 3

1.

i. जार्ज सिमेल
ii. सोरोकिन

2.

i. समन्वयात्मक
ii. स्वरूपात्मक
iii. जार्ज सिमेल, स्वरूपों
iv. सामुहिक प्रतिनिधानों

2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गुप्ता, एम.एल., शर्मा, डी0डी (2012), समाजशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
2. अग्रवाल, जी.के., (2008), मानव समाज एवं समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ : 'समाजशास्त्र', एस0बी0पी0डी0 पब्लिकेशन, आगरा।
2. गुप्ता एवं शर्मा : 'समाजशास्त्र', साहित्य भवन आगरा।
3. अग्रवाल, जी0के0 : 'समाजशास्त्र', साहित्य भवन आगरा।

2.11 निबन्धात्मक प्रष्न

प्रश्न 1. विज्ञान क्या है? समाजशास्त्र किस प्रकार से एक विज्ञान है, स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. समाजशास्त्र की प्रकृति क्या है? वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3. राबर्ट बीरस्टीड ने समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति को किस प्रकार स्पष्ट किया है?

प्रश्न 4. विज्ञान की विशेषताएँ बताइए। समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध आपत्तियों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 5. समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र पर एक लेख लिखिए।

प्रश्न 6. स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 7. समन्वयात्मक सम्प्रदाय की स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 8. समाजशास्त्र की विषय वस्तु क्या है। समझाइए?

प्रश्न 9. समाजशास्त्र क्या है? विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र की विषय वस्तु को किस प्रकार बताया है, चर्चा करिए।

इकाई– 3 समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान– मानवशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र

Sociology &Other Social Sciences-Anthropology, History, Political Science & Economics

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध
3.3 समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के बीच सम्बन्ध
3.3.1 समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के बीच अन्तर
3.4 समाजशास्त्र तथा इतिहास के बीच सम्बन्ध
3.4.1 समाजशास्त्र तथा इतिहास के बीच अन्तर
3.5 समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में सम्बन्ध
3.5.1 समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में अन्तर
3.6 समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में सम्बन्ध
3.6.1 समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में अन्तर
3.7 सारांश
3.8 पारिभाषिक शब्दावली
3.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर
3.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.12 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा–

- समाजशास्त्र किस प्रकार अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित है इसे समझना।
- समाजशास्त्र एवं इतिहास एक दूसरे से किस प्रकार से जुड़े है इसकी व्याख्या करना।
- समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के मध्य पाए जाने वाले सम्बन्धों को समझना।
- समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों की व्याख्या करना।
- समाजशास्त्र किस प्रकार अन्य सामाजिक विज्ञानों से अलग है इसकी चर्चा करना।

3.1 प्रस्तावना

जैसा कि आप जानते है कि समाजशास्त्र मानव समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है अर्थात् यह समाज का क्रमबद्ध एवं संगठित अध्ययन करने वाला विज्ञान है। वर्तमान समय में समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं को अच्छी तरह से समझने के लिए नई–नई पद्धतियों को अपना रहा है। इसी वजह से यह अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सामान्य रूप से अन्तःक्रिया करता है। इस अन्तःक्रिया के दौरान समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित होने लगता है। चूँकि सभी सामाजिक विज्ञान जैसे मानवशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास,

अर्थशास्त्र, सामाजिक जीवन के ही विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हैं तथा समाजशास्त्र भी सामाजिक घटनाओं का सामान्य रूप से अध्ययन करता है इसीलिए ये सभी विज्ञान आपस में जुड़े होते हैं तथा इनमें कुछ मौलिक अन्तरों के साथ ही काफी समानता भी पाई जाती है। इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों की प्रकृति किस प्रकार की है। समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने में यह इकाई आपकी मदद करेगी।

3.2 समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान

जैसा कि आप जानते हैं कि क्रमबद्ध ज्ञान को ही हम विज्ञान कहते है। विज्ञान को मुख्यतः दो भागों में बॉटा जाता है– भौतिक विज्ञान तथा सामाजिक विज्ञान। भौतिक विज्ञानों के अन्तर्गत गणित, रसायनशास्त्र, भूविज्ञान, खगोलशास्त्र आदि का अध्ययन किया जाता है जबकि सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्गत समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि का अध्ययन किया जाता है। विभिन्न सामाजिक विज्ञान व्यक्ति के सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हैं जैसे– राजनीतिशास्त्र मात्र राज्य से सम्बन्धित तथ्यों का अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र केवल आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। किन्तु समाजशास्त्र एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है जो समाज के किसी एक विशिष्ट पक्ष का अध्ययन नहीं करता बल्कि सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का सामान्य रूप से अध्ययन करता है। चूंकि सभी सामाजिक विज्ञान समाज के किसी न किसी पक्ष का अध्ययन करते हैं अतः अलग–अलग होते हुए भी वे सभी पारस्परिक रूप से सम्बन्धित होते हैं। चूंकि समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करता है अतः अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ इसका आदान–प्रदान का सम्बन्ध पाया जाता है। एक ओर समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों से कुछ ग्रहण करता है तो दूसरी आरे अन्य सामाजिक विज्ञान भी समाजशास्त्र से कुछ न कुछ अवश्य ग्रहण करते है। इस परस्पर लेन–देन से समाजशास्त्र का अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध गहरा होता जाता है।

समाजशास्त्र और अन्य विज्ञानों के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है इस विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग–अलग मत प्रस्तुत किए गए है। फ्रेंच विद्वान ऑगस्ट कॉम्ट समाजशास्त्र को ही समाज का एक मात्र विज्ञान मानते हैं तथा इस बात पर जोर देते है कि समाजशास्त्र का अन्य किसी भी सामाजिक विज्ञान से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इनके अनुसार चूँकि अन्य सामाजिक विज्ञान समाज के मात्र एक ही पहलू का अध्ययन करते हैं अतः वे समाजशास्त्र के मात्र उपभाग हैं। हरबर्ट स्पेन्सर समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों जैसे– अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि का समन्वय मानते हैं जो एक दूसरे से जुड़े हैं तथा एक दूसरे पर निर्भर है। समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच के सम्बनध को स्पष्ट करते हुए बार्न्स तथा बेकर कहते है कि ''समाजशास्त्र न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों की गृस्वामिनी है और न ही उसकी दासी, बल्कि केवल उनकी बहिन है।'' लेस्टर वार्ड, कॉम्ट की तरह समाजशास्त्र को न तो एकमात्र सामाजिक विज्ञान मानते हैं और ना ही स्पेंन्सर की तरह अन्य सामाजिक विज्ञानों का समन्वय। वार्ड कहते हैं कि विभिन्न सामाजिक विज्ञान मिलकर समाजशास्त्र का निर्माण करते हैं जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है।

3.3 समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के बीच सम्बन्ध

समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र को क्रोबर ने ''जुड़वा बहिनें'' कहा है क्योंकि ये दोनों ही शास्त्र आपस में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। जहाँ एक ओर समाजशास्त्र 'सभ्य समाज' का अध्ययन

करता है वही दूसरी ओर मानवशास्त्र 'आदिम समाज' का अध्ययन करता है। दोनों ही विज्ञान समाज का अध्ययन करते हैं इसीलिए विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र बिल्कुल एक समान हैं। हर्सकोविट्स के अनुसार मानवशास्त्र मनुष्य एवं उसकी कृतियों का अध्ययन है। जहाँ एक ओर मानवशास्त्र में मनुष्यों का उद्विकास एवं मानव निर्मित संस्कृति एवं सभ्यता आदि का अध्ययन किया जाता है वहीं दूसरी ओर समाजशास्त्र में भी मानव समाज और उसकी संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। अतः देखा जाए तो दोनों ही शास्त्र मानव–समूहों के मध्य अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन करते हैं। हॉबल के अनुसार, ''विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र बिल्कुल समान एवं एक हैं।'' दोनों की ही अध्ययन वस्तु 'समाज' है। मानवशास्त्र तीन तरह से समाजशास्त्र से सम्बन्धित है– भौतिक मानवशास्त्र, प्रागैतिहासिक मानवशास्त्र तथा सामाजिक मानवशास्त्र। भौतिक मानशास्त्र आदि मानव की उत्पत्ति तथा उसकी शारीरिक विशेषताओं का अध्ययन करता है। जिसका उपयोग समाजशास्त्र द्वारा अपने अध्ययनों मे लिया जाता है। प्रागैतिहासिक मानवशास्त्र पूर्व–ऐतिहासिक युग की संस्कृतियों, सभ्यताओं तथा कलाओं का अध्ययन करता है जिसके आधार पर समाजशास्त्र वर्तमान, सामाजिक व्यवस्था, संस्कृति एवं सामाजिक परिवर्तनों को समझता है।

सामाजिक मानवशास्त्र आदिम समाजों के सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। इसके द्वारा आदिम समाजों की सामाजिक संरचना, व्यवस्था, संस्कृति, आर्थिक प्रविधियों, परिवार, न्याय, कानून आदि का अध्ययन किया जाता है। साथ ही समाजशास्त्र भी सभ्य समाजों के सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। स्पष्ट है कि मानवशास्त्र सरल और छोटे आदिम समाजों का अध्ययन करता है। ये अध्ययन समाजशास्त्र को आधुनिक जटिल समाजों को समझने में मदद करता है। इसी प्रकार समाजशास्त्र भी आधुनिक जटिल समाजों की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करके मानवशास्त्र के लिए अनेक उपकल्पनाएँ प्रस्तुत करता है। साथ ही समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक ज्ञान का उपयोग मानवशास्त्र द्वारा आदिम समाज को भली–भाँति समझने के लिए किया जाता है। कुछ विज्ञान मानवशास्त्र को तुलनात्मक समाजशास्त्र भी कहते हैं क्योंकि वर्तमान समय में मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र दोनों ही आदिवासी एवं सरल समाजों की वर्तमान जटिल परिवर्तनशील समाज से तुलना करके सामाजिक संरचना, व्यवस्था एवं संस्कृति जो समझने का प्रयत्न करते है।

स्पष्ट है कि समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र एक दूसरे की सहायता करते हैं एवं एक दूसरे के अत्यधिक निकट हैं। सामाजिक मानवशास्त्र, जो कि एक शाखा है, के अनेक विद्वानों जैसे– एल0 एच0 मार्गन, रॉबर्ट रेडफील्ड, रेडक्लिफ–ब्राउन आदि के योगदान समाजशास्त्र के लिए भी समान रूप से उपयोगी सिद्ध हुए हैं। भारतीय मानवशास्त्री जैसे– एस0 सी0 दुबे, टी0 एन0 मदन, एम0 एन0 श्रीनिवास तथा आन्द्रे बिते आदि के विभिन्न अध्ययन समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र दोनों में ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इसी आधार पर डॉ0 दुबे दोनों ही विज्ञानों के बीच कोई मौलिक अन्तर नहीं मानते है। बॉटोमोर भी समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के बीच पाए जाने वाले घनिष्ठ सम्बन्ध को भारत के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भारतीय समाज न तो औद्योगिक रूप से पूरी तरह विकसित है और न ही आदिम समाजों की तरह पूरी तरह से पिछड़ा हुआ है। इसीलिए यहाँ की सामाजिक व्यवस्था, ग्रामीण समुदाय, नातेदारी–सम्बन्धों, जजमानी व्यवस्था तथा परम्पराओं का अध्ययन मानवशास्त्र में भी किया जाता है तथा समाजशास्त्र में भी। भारत जैसे समाजों में समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र की अध्ययन वस्तु के बीच ज्यादा अन्तर नहीं होता है।

3.3.4 समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के बीच अन्तर

यद्यपि समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बनध पाया जाता है किन्तु फिर भी दोनों के बीच कुछ मौलिक भेद पाए जाते है। दोनों बिल्कुल एक जैसे नहीं है। समाजशास्त्र, मानवशास्त्र से निम्नलिखित अर्थों में भिन्न हैं–

1. विषय–क्षेत्र की दृष्टि से दोनों शास्त्र एक दूसरे से अलग–अलग है। समाजशास्त्र प्रमुखतः वर्तमान, जटिल सभ्य समाजों का अध्ययन करता है जबकि मानवशास्त्र द्वारा सरल और आदिम समाजों का अध्ययन किया जाता है।
2. समाजशास्त्र द्वारा सामाजिक घटनाओं का अध्ययन सामाजिक दृष्टि से किया जाता है जबकि मानवशास्त्र का दृष्टिकोण सांस्कृतिक होता है।
3. दोनों ही विज्ञानों में पद्धति सम्बन्धी अन्तर भी पाया जाता है जहाँ एक ओर समाजशास्त्र में निदर्शन पद्धति, सामाजिक सर्वेक्षण, सांख्यिकी पद्धति आदि का उपयोग किया जाता है वहीं दूसरी ओर मानवशास्त्र में प्रमुख रूप से सहभागी अवलोकन पद्धति का प्रयोग किया जाता है।
4. समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है जबकि मानवशास्त्र को व्यवहारिक सामाजिक विज्ञान माना जाता है।
5. जहाँ एक ओर मानवशास्त्री के अध्ययन का दृष्टिकोण सांस्कृतिक होता है। वह अपने अध्ययन में मानव तथा संस्कृति की उत्पत्ति एवं विकास को अत्यधिक महत्व देता है वहीं दूसरी ओर समाजशास्त्री के अध्ययन का दृष्टिकोण बहुत व्यापक होता है। समाजशास्त्री उद्विकास आदि विषयों के स्थान पर समकालीन अध्ययनों को अधिक महत्व देते हैं।

अब आप जान गए होंगे कि समाजशास्त्र किस प्रकार से मावनशास्त्र से सम्बन्धित है तथा एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े होने के बाद भी किस प्रकार से दोनों ही विज्ञानों के बीच कुछ मौलिक अन्तर भी पाए जाते हैं।

बोध प्रश्न – 1

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए–

   i. ''समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र जुड़वा बहिनें हैं'' यह कथन किसका है।

   .....

   ii. मानवशास्त्र किस प्रकार से समाजों के अध्ययन से सम्बन्धित है।

   .....

   iii. मानवशास्त्र में किस प्रकार की अध्ययन पद्धति का उपयोग किया जाता है।

   .....

   iv. तुलनात्मक समाजशास्त्र किसे कहते हैं।

   .....

2. **सत्य असत्य बताइये–**

   i. समाजशास्त्र में आदिम सरल समाजों का अध्ययन किया जाता है।

   .....

   .....

   ii. मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

   .....

   .....

iii. विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र बिल्कुल एक समान है। यह कथन हॉबेल का है।

.....

.....

3. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

i. ..... समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों जैसे अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि का समन्वय मानते है।

ii. ..... और ..... के अनुसार समाजशास्त्र न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों की गृहस्वामिनी है और न ही उनकी दासी, बल्कि केवल उनकी बहिन है।

iii. ..... समाजशास्त्र को ही एकमात्र सामाजिक विज्ञान मानते हैं।

3.4 समाजशास्त्र तथा इतिहास के बीच सम्बन्ध

समाजशास्त्र तथा इतिहास दोनों ही सामाजिक विज्ञान हैं इसीलिए दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। यद्यपि इतिहास को सामाजिक विज्ञान की श्रेणी में पूरी तरह से नहीं रखा जाता है किन्तु फिर भी समाजशास्त्र के साथ इसका महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। इन दोनों विज्ञानों के बीच विषय वस्तु का नहीं बल्कि दृष्टिकोण का अन्तर पाया जाता है। इतिहास भूतकाल की घटनाओं के बारे में जानकरी देता है साथ ही उन घटनाओं के कार्य–कारण सम्बन्धों की विवेचना भी करता है। यह अतीत की घटनाओं का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन है। इतिहास द्वारा प्रारम्भ से लेकर वर्तमान तक के मनुष्य के जीवन की प्रमुख घटनाओं का वर्णन किया जाता है। इतिहास द्वारा अतीत की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक घटनाओं की व्याख्या की जाती है साथ ही उन अनेक संस्थाओं की भी विवेचना की जाती है जो भूतकाल में परम्परागत संस्थाओं के रूप में उपस्थित थीं तथा वर्तमान एवं भविष्य में भी लगातार अपना अस्तित्व बनाए रखती है। समाजशास्त्र, इतिहास की प्राचीन घटनाओं के अध्ययन से सहायता प्राप्त करता है। ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर समाजशास्त्र द्वारा वर्तमान समय के सामाजिक जीवन को समझने का प्रयास किया जाता है। इतिहास विभिन्न युगों के राजा–महाराजाओं, प्रमुख युद्धों, क्रान्ति, आक्रमण एवं प्रमुख तारीखों के अध्ययन के साथ–साथ विभिन्न युगों की सामाजिक घटनाओं को भी प्रस्तुत करता है जो समाजशास्त्र के अध्ययन का विषय है।

समाजशास्त्र तथा इतिहास दोनों ही सभ्यता तथा संस्कृति का अध्ययन करते हैं। समाजशास्त्र द्वारा वर्तमान समय की सभ्यता एंव संस्कृति का अध्ययन किया जाता है जबकि इतिहास द्वारा सभ्यता एवं संस्कृति का अध्ययन समय–क्रम के अनुसार किया जाता है। इन दोनों ही विज्ञानों द्वारा संघर्ष, क्रान्ति एवं युद्ध का अध्ययन किया जाता है। जहाँ एक ओर समाजशास्त्र द्वारा इनका अध्ययन सामाजिक प्रक्रिया के रूप में किया जाता है वहीं दूसरी ओर इतिहास में इनका अध्ययन विशिष्ट घटना के रूप में किया जाता है। यदि इतिहास द्वारा क्रान्ति की व्याख्या की जाती है तो समाजशास्त्र क्रान्ति को सामाजिक घटना मानकर उसको प्रोत्साहित करने वाली प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। साथ ही इसके कारणों एवं परिणामों की व्याख्या भी करता है। स्पष्ट है कि ये दोनों ही विज्ञान एक दूसरे से सम्बन्धित है तथा एक दूसरे पर बहुत निर्भर भी है। समाजशास्त्र को इतिहास की प्राचीन घटनाओं के अध्ययन से सहायता प्राप्त होती है। समाजशास्त्र में इतिहास से प्राप्त सामाजिक तथ्यों तथा सूचनाओं का उपयोग किया जाता है। साथ ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा अवधारणाओं के निर्माण में भी इतिहास द्वारा प्राप्त सामग्री का प्रयोग किया जाता है। दूसरी ओर सामाजिक परिस्थितियाँ भी ऐतिहासिक

स्वरूपों पर प्रभाव डालती है। जब सामाजिक विघटन की परिस्थिति बनती है तो युद्ध, क्रान्ति, आक्रमण और संघर्ष होते हैं फलस्वरूप अनेक समाज अस्तित्व में आते हैं साथ ही अनेक नष्ट भी होते हैं। इतिहास इन्हीं घटनाओं का अध्ययन करता है। चूँकि समाजशास्त्र में इतिहास का प्रभाव पड़ता है इसीलिए 'ऐतिहासिक समाजशास्त्र' का विकास हुआ। मैक्स वेबर, रेमण्ड एरो आदि समाजशास्त्रीयों ने ऐतिहासिक समस्याओं पर समाजशास्त्र के विकास में योगदान दिया है। साथ ही इतिहास में समाजशास्त्र का प्रभाव देखते हुए सामाजिक इतिहास का विकास हुआ है। अनेक इतिहासकारों जैसे– जी.जी. कौल्टन, टायनबी, जेंकब बुर्कहार्ट आदि ने 'सामाजिक इतिहास' के विकास में योगदान दिया है। डॉ0 जे0 पी0 सिंह के अनुसार मार्क्स का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त मुख्य रूप से इतिहास की व्याख्या पर आधारित है। साथ ही ऑर्नाल्ड टॉयनबी की कृति 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' समाजशास्त्रीय अध्ययनों हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। इस प्रकार से कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र एवं इतिहास दोनों ही एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

3.4.1 समाजशास्त्र तथा इतिहास के बीच अन्तर

यद्यपि समाजशास्त्र तथा इतिहास एक दूसरे के निकट हैं उनमें बहुत समानता पाई जाती है फिर भी इन दोनों के बीच कुछ अन्तर पाए जाते हैं जो निम्नलिखित है–

1. समाजशास्त्र का सम्बन्ध वर्तमान से है जबकि इतिहास का सम्बन्ध अतीत से है।
2. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जिसमें सभी प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। इतिहास एक विशेष विज्ञान है जिसमें विशेष ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है।
3. पार्क के अनुसार इतिहास मानव अनुभव और मानव प्रकृति का मूर्त विज्ञान है जबकि समाजशास्त्र अमूर्त विज्ञान है।
4. बीरस्टीड कहते हैं कि इतिहास स्वयं को समान घटनाओं में भिन्नताओं का पता लगाने में लगाता है जबकि समाजशास्त्र स्वयं को विभिन्न घटनाओं में समानताओं का पता लगाने में। अर्थात् इतिहास जिन घटनाओं का अध्ययन करता है वे विशिष्ट होती हैं जबकि समाजशास्त्र घटनाओं का सामान्यीकरण करता है।
5. समाजशास्त्रीय अध्ययन सामान्यतः विश्लेषणात्मक होते हैं जबकि ऐतिहासिक अध्ययन विवरणात्मक।
6. समाजशास्त्र के अन्तर्गत प्राप्त निष्कर्षों एवं सिद्धान्तों का परीक्षण एवं पुनर्परीक्षण किया जा सकता है जबकि ऐतिहासिक घटनाएँ चूँकि सामान्यतः एक बार ही घटित होती है इसीलिए इतिहास की घटनाओं या अध्ययनों का परीक्षण एवं पुनर्परीक्षण सम्भव नहीं होता है इसीलिए समाजशास्त्र, इतिहास की तुलना में अधिक वस्तुनिष्ठ विज्ञान है।

अब आप समझ गए होंगे कि समाजशास्त्र तथा इतिहास किस प्रकार से एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है तथा अनेक समानताओं के बाद भी दोनों विज्ञानों में पर्याप्त अन्तर भी पाया जाता है।

बोध प्रश्न – 2

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
   i. ..... भूतकाल की विशिष्ट घटनाओं का वर्णन करता है।
   ii. ..... वर्तमान समय की सभ्यता एवं संस्कृति का अध्ययन करता है।
   iii. समाजशास्त्र में इतिहास के प्रभाव के परिणामस्वरूप ..... का विकास हुआ है।

2. सत्य–असत्य बताइए–

i. इतिहास की घटनाओं का परीक्षण तथा पुनर्परीक्षण नहीं हो सकता है।

.....

.....

ii. समाजशास्त्रीय अध्ययनों में इतिहास द्वारा प्राप्त सामग्री का प्रयोग नहीं किया जाता है।

.....

.....

iii. समाजशास्त्र तथा इतिहास दोनों ही सभ्यता एवं संस्कृति का अध्ययन करते है।

....

.....

3.5 समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के सम्बन्ध

समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र हमेशा से ही एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहे हैं। चूँकि राज्य एवं समाज एक दूसरे से अलग नहीं माने जाते थे और 'राजा' मूल रूप से सामाजिक भी होता है तथा राजनीतिक भी इसीलिए कुछ समय पहले तक समाजशास्त्र तथा राजनीतिकशास्त्र दोनों को एक ही विषय के अन्तर्गत माना जाता था। **गिडिंग्स** कहते हैं कि सभी राजनीतिशास्त्री, समाजशास्त्री होते हैं तथा सभी समाजशास्त्री, राजनीतिशास्त्री होते हैं। **गिडिंग्स** के अनुसार जो लोग समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों को नहीं जानते हैं उन्हें राज्य के सिद्धान्तों को पढ़ाना उसी तरह से बेकार है जिस तरह से उस व्यक्ति को ज्योतिष पढ़ाना जो न्यूटन के सिद्धान्त को नहीं जानता हो। अर्थात् राजनीतिशास्त्र को समझने के लए समाजशास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है। राजनीतिशास्त्र वह सामाजिक विज्ञान है जो मनुष्य की राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। राजनीतिशास्त्र की अध्ययन–वस्तु मुख्यतः राज्य है अतः यह राज्य की उत्पत्ति विकास, विशेषताओं, इसके उद्देश्य एवं महत्व, संगठन, सरकार की शासन प्रणाली तथा नीतियों का क्रमबद्ध अध्ययन करता है। **गार्नर** कहते हैं कि राजनीतिशास्त्र मानव सम्बन्धों के केवल एक ही प्रकार 'राज्य' से सम्बन्ध रखता है। किन्तु समाजशास्त्र सभी प्रकार के मानव सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के मध्य लेन–देन भी चलता रहता है। साथ ही दोनों ही विज्ञानों का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को सामाजिक प्राणी एवं अच्छा नागरिक बनाना है। जहाँ एक ओर राजनीतिशास्त्र मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी मानता है वहीं दूसरी ओर समाजशास्त्र यह बताता है कि वह राजनीतिक प्राणी क्यों और कैसे बना? इन दोनों ही विज्ञानों के घनिष्ठ सम्बन्धों के फलस्वरूप समाजशास्त्र के अन्तर्गत **'राजनीतिक समाजशास्त्र'** का भी अध्ययन किया जाता है। शक्ति, प्रभुत्व, सत्ता, दबाव समूह, राजनीतिक दल, तथा अधिकारी तन्त्र आदि राजनीतिशास्त्र से सम्बन्धित ऐसे विषय है जिनकी अवधारणा को समाजशास्त्र में स्पष्ट किया गया है साथ ही सामाजिक जीवन जिस सहयोग एवं समानता पर आधारित है उसका संरक्षण राजनीति विज्ञान के नियमों द्वारा ही किया जाता है। राजनीति विज्ञान किसी भी ऐसे सिद्धान्त का निर्माण नहीं करता है जिससे उसे वैज्ञानिक श्रेणी में रखा जा सके एवं जिनके आधार पर राजनीतिक जीवन की सम्पूर्णता को समझा जा सके। जिसे हम 'राजनीतिक सिद्धान्त' कहते हैं वो वास्तव में 'राजनीतिक दर्शन' मात्र है। समाजशास्त्र उन सामाजिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करता है जिनके आधार पर राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावपूर्ण बनाया जा सके। वर्तमान समय में राजनीतिशास्त्र में भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं पद्धतियों का प्रयोग होने लगा है।

राजनीतिक व्यवहारों को समझने के लिए समाजिक तथ्यों एवं सामजिक संस्थाओं के बारे में जानना आवश्यक है। उदाहरण के लिए यदि राजनीतिक दलों अथवा मतदान व्यवहार को जानना है तो विभिन्न सामाजिक संस्थाओं एवं कारणों जैसे– जाति व्यवस्था, क्षेत्रीयता, सामाजिक पिछड़ापन, परिवार व्यवस्था, स्त्रियों की स्थिति आदि के बारे में जानकारी होना जरूरी है। इसी प्रकार राजनीतिशास्त्र भी समाजशास्त्र को प्रभावित करता है। किसी भी समाज की सामाजिक व्यवस्था तथा संगठन पर उसके राज्य की नीतियों, नियमों एवं कार्यप्रणाली का प्रभाव अवश्य पड़ता है। सामाजिक प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाएँ, मूल्य आदि पर राज्य द्वारा पारित कानून का प्रभाव पड़ता है। **गिलक्राईस्ट** ने राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र की पारस्परिक अन्तनिर्भरता को बताते हुए कहा है, कि ''राजनीतिशास्त्र में हमें मानव सम्बन्ध के उन तथ्यों एवं सिद्धान्तों को अवश्य ग्रहण करना होगा, जिन सिद्धान्तों एवं तथ्यों का अध्ययन एवं प्रतिपादन करना समाजशास्त्र का कर्त्तव्य है।'' **मैक्स वेबर** तथा **परेटो** ने कुछ राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी किया है। इसी प्रकार **आमण्ड, राबर्ट डौल, एस0 एम0 लिपसेट** तथा **रूडॉल्फ** एवं **रूडॉल्फ** आदि विद्वानों द्वारा भी राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए समाजशास्त्रीय अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया गया है। स्पष्ट है कि समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र दोनों ही एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है साथ ही दोनों ही विज्ञान एक दूसरे पर परस्पर निर्भर भी है।

3.5.1 समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में अन्तर

समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में कुछ मौलिक अन्तर भी पाए जाते हैं जैसे–

1. समाजशास्त्र द्वारा सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है जबकि राजनीतिशास्त्र द्वारा सामाजिक सम्बन्धों के मात्र एक ही स्वरूप, राजनीतिक सम्बन्धों का ही अध्ययन किया जाता है।
2. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि राजनीतिशास्त्र एक विशेष विज्ञान है।
3. समाजशास्त्र सामाजिक नियंत्रण के सभी साधनों का अध्ययन करता है जैसे– प्रथा, संस्थाएँ, परम्पराएँ, आचार, रूढ़ियाँ आदि जबकि राजनीतिशास्त्र मात्र उन्हीं नियंत्रणों का अध्ययन करता है जिन्हें राज्य की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है।
4. समाजशास्त्र ''क्या है'' का वर्णन करता है अर्थात यह वर्तमान सामाजिक दशाओं के बारे में बताता है। 'क्या होना चाहिए' से इसका सम्बन्ध नहीं है। राजनीतिशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान है जो 'क्या होना चाहिए' के बारे में बात करता है यह इस बात पर जोर देता है कि भविष्य में राज्य की नीतियाँ एवं व्यवस्थाएँ कैसी होनी चाहिए, सरकार का रूप कैसा होना चाहिए आदि।
5. अध्ययन–पद्धति की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर है जहाँ एक ओर समाजशास्त्र सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, अवलोकन और साक्षात्कार पद्धति आदि का प्रयोग करता है वहीं दूसरी ओर राजनीतिशास्त्र आगमन एवं निगमन पद्धति का प्रयोग करता है।
6. चूँकि समाज का निर्माण एवं विकास राज्य के बहुत पहले हुआ अतः इस प्रकार समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र की तुलना में अधिक प्राचीन है।

अब आप जान चुके हैं कि समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में बहुत आदान–प्रदान होता है इसीलिए ये दोनों एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। साथ ही घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी पाए जाते है।

बोध प्रश्न – 3

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए–

   i. मानव के राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला सामाजिक विज्ञान कौन सा है?

   .....

   .....

   ii. ''राजनीतिशास्त्र में हमें मानव सम्बन्ध के उन तथ्यों एवं सिद्धान्तों को अवश्य ग्रहण करना होगा, जिन सिद्धान्तों एवं तथ्यों का अध्ययन एवं प्रतिपादन करना समाजशास्त्र का कर्त्तव्य।'' यह कथन किसका है?

   .....

   .....

   iii. ''जो लोग समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों को नहीं जानते हैं उन्हें राज्य के सिद्धान्तों को पढ़ाना उसी तरह से बेकार हे जिस तरह से उस व्यक्ति को ज्योतिष पढ़ाना जो न्यूटन के सिद्धान्त को नहीं जानता हो।'' यह कथन किसका है?

   .....

   .....

2. **सत्य/असत्य बताइए।**

   i. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि राजनीतिशास्त्र एक विशेष विज्ञान है।

   .....

   .....

   ii. समाजशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान है जो क्या होना चाहिए का वर्णन करता है।

   .....

   .....

   iii. राजनीतिक व्यवहारों को समझने के लिए सामाजिक तथ्यों एवं सामाजिक संस्थाओं को जानना आवश्य है।

   .....

   .....

3.6 समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में सम्बन्ध

अभी तक आपने समाजशास्त्र का मानवशास्त्र, इतिहास और राजनीतिशास्त्र से क्या सम्बन्ध है इसका अध्ययन किया। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मानव की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इसे **''धन''** का विज्ञान भी कहते है। अर्थशास्त्र द्वारा धन के उत्पादन, वितरण एवं उपभोग से सम्बन्धित व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध इसी से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र के विकास के आरम्भिक समय में इसका अध्ययन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही किया जताा था। इसीलिए अनेक प्रसिद्ध समाजशास्त्री, महान अर्थशास्त्री भी रहे है। **कॉम्ट, जे.एस. मिल. परेटो, वेबलिन, मार्क्स, मैक्स वेबर** आदि विद्वानों ने आर्थिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करके, यह स्पष्ट कर दिया कि ये दोनों ही विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं।

सिल्वरमैन इन दोनों ही विज्ञानों के सम्बनध में कहते हैं कि सामान्य कार्यो या लक्ष्यों के लिए इसे (अर्थशास्त्र) समाजशास्त्र नामक पितृ विज्ञान (Parent Science) की, जो सभी सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करता है, एक शाखा माना जा सकता है। **मैकाइवर** के अनुसार एक प्रकार से आर्थिक घटनाएँ सदैव सामाजिक आवश्यकताओं और क्रियाओं के समस्त स्वरूपों द्वारा निश्चित होती है और वे सदैव प्रत्येक प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं और क्रियाओं को पुर्नर्निश्चित, सृजित, रूपान्तिरित एवं परिवर्तित करती है तथा अनेक बार समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र की अध्ययन पद्धतियों का लाभ भी उठाता हैं इस प्रकार दोनों ही विज्ञान के मध्य आदान–प्रदान चलता रहता है। **स्मेल्सर** ने ऐसी अनेक प्रक्रियाओं को बताया है जिनमें सामाजिक और आर्थिक कारक एक दूसरे से बिल्कुल मिले हुए है। संस्कृतिकरण, सात्मीकरण, नगरीकरण, औद्योगीकरण गतिशीलता आदि ऐसी प्रक्रियाऐं हैं जब तक इनका अध्ययन सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से नहीं किया जाए तब तक इन्हें ठीक से समझा नहीं जा सकता। **मार्क्स** की कृति 'दास कैपिटल' तथा **वेबर** की कृति 'द प्रोटेस्टेण्ट इथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के बीच के सम्बन्धों को स्पष्ट करती है। जहाँ एक ओर **मार्क्स** आर्थिक संरचना को सामाजिक संरचना का आधार मानते हैं वहीं दूसरी ओर **वेबर** कहते हैं कि धर्म आर्थिक संगठनों को प्रभावित करता है। **वेबर** आधुनिक पूँजीवाद के विकास में प्रोटेस्टेन्ट धर्म की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हैं। धार्मिक आचार (एक सामाजिक तथ्य) तथा पूँजीवाद (एक आर्थिक तथ्य) के पारस्परिक सम्बन्ध को बताते हुए **वेबर** समोजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र की घनिष्ठता को स्पष्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त मिरडॅल की 'एशियन ड्रामा' तथा होजलिट्स की 'सोश्योलॉजिकल आस्पेक्ट्स ऑफ इकॉनॉमिक ग्रोथ' भी समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों को स्पष्ट करती हैं।

समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के बीच सम्बन्ध कितना गहरा है यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ एक ओर आर्थिक सम्बन्धों की प्रकृति तथा आर्थिक व्यवस्था के रूप का निर्धारण समाज की परम्पराओं, प्रथाओं, जनरीतियों, विश्वास आदि के द्वारा किया जाता है। वहीं दूसरी ओर सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था तथा व्यवहारों पर समाज की आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव पड़ता है। सभी समाजों की आर्थिक दशाएँ एवं सामाजिक दशााऐं एक दूसरे को प्रभावित करती रहती है। अनेक समस्याएँ जेसे बेरोजगारी, निर्धनता, अपराध, वैश्यावृत्ति आदि जहाँ एक ओर आर्थिक कारकों से प्रभावित हैं वहीं दूसरी आरे इनके सामाजिक कारक भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र की अध्ययन–पद्धितियों का भी उपयोग करता है। व्यक्ति की सामाजिक क्रियाओं एवं व्यवहार पर आर्थिक परिस्थितियों का तथा आर्थिक क्रियाओं एवं व्यवहार पर सामाजिक परिस्थितियों का बहुत प्रभाव पड़ता है इसीलिए **बोटोमोर** कहते हैं कि समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्ध के बारे में ज्यादा समय तक संदेह की अवस्था नहीं बनी रहेगी। **पारसन्स** तथा **स्मेल्सर** ने आर्थिक सिद्धान्त को समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का ही एक भाग माना है। स्पष्ट है कि समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र एक दूसरे के सहायक हैं तथा आपस में घनिष्ठता से सम्बन्धित है। समाजशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों का प्रयोग करके अनेक अर्थशास्त्री इस बात को स्वीकार भी कर रहे हैं।

3.6.1 समाजषास्त्र तथा अर्थषास्त्र में अन्तर

अब आप जान चुके है कि समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र आपस में कितनी गहराई से जुड़े हुए हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन दोनों विज्ञानों के बीच कोई अन्तर नहीं पाया जाता है। इन दोनों विज्ञानों के बीच भी निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं–

1. समाजशास्त्र समाज के सभी पहलुओं का सामान्य अध्ययन करता है इसीलिए यह एक **सामान्य विज्ञान** है। अर्थशास्त्र समाज के केवल आर्थिक पहलू का अध्ययन करता है अतः यह एक विशिष्ट **विज्ञान** है।
2. समाजशास्त्र की प्रकृति **समूहवादी** होती है जबकि अर्थशास्त्र की प्रकृति **व्यक्तिवादी** होती है।
3. दोनों ही विज्ञानों की अध्यन–पद्धतियों में भी अन्तर पाया जाता है जहाँ एक ओर समाजशास्त्र में सामाजिक सर्वेक्षण, पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, अवलोकन पद्धति तथा समाजमिति आदि का प्रयोग किया जाता है वहीं दूसरी ओर अर्थशास्त्र आगमन तथा निगमन पद्धति का प्रयोग करके अध्ययन कार्य करता है।
4. समाजशास्त्र के नियम सार्वभौमिक तथा स्वतन्त्र होते हैं जो घटनाओं को उनके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करते है। अर्थशास्त्र के नियम स्वतन्त्र नहीं होते हैं इनके साथ ये शब्द जुड़े रहते है– 'अन्य बातों के समान रहने पर'। ये प्रत्येक घटना का कारण आर्थिक क्रियाओं से जोड़ते हैं।

अब आपको स्पष्ट हो गया है कि जहाँ एक ओर समाजशास्त्र तथ अर्थशास्त्र में घनिष्ठता पाई जाती है वहीं दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी पाए जाते हैं जो इन्हें एक दूसरे से अलग करते हैं।

बोध प्रश्न – 4

1. एक शब्द में उत्तर दीजिए–
   i. मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करने वाला सामाजिक विज्ञान कौन सा है?

   .....

   .....

   ii. 'सामान्य कार्यो या लक्ष्यों के लिए इसे (अर्थशास्त्र) समाजशास्त्र नामक पितृ विज्ञान की, जो सभी सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करता है, एक शाखा माना जा सकता है यह किसने कहा है?

   .....

   .....

   iii. धार्मिक आचार (एक सामाजिक तथ्य) तथा पूँजीवाद (एक सामाजिक तथ्य) के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करके समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र को नजदीक लाने का कार्य किस विद्वान द्वारा किया गया है?

   .....

   .....

2. **रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–**
   i. व्यक्ति की सामाजिक क्रियाओं तथा व्यवहार पर ..... परिस्थिति तथा आर्थिक क्रियाओं एवं व्यवहार पर ..... परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है।
   ii. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि अर्थशास्त्र एक ..... है।
   iii. समाजशास्त्र की प्रकृति ..... होती है जबकि अर्थशास्त्र की प्रकृति .... होती है।
   iv. ..... के नियम स्वतन्त्र नहीं होते हैं तथा इनके साथ ये शब्द जुड़े रहते है– 'अन्य बातों के समान रहने पर'।

3.7 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके हैं कि किस प्रकार समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित है। देखा जाए जो ये सभी सामाजिक विज्ञान एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है तथा एक दूसरे के पूरक है। इनमें आपस में आदन–प्रदान चलता रहता है। समाजशास्त्र समपूर्ण समाज का अध्ययन करता है तथा अन्य सामाजिक विज्ञान समाज के किसी एक ही पक्ष का अध्ययन करते हैं। अतः समाजशास्त्र को हम अन्य सामाजिक विज्ञानों के केन्द्र में स्थित मान सकते हैं। इन सभी सामाजिक विज्ञानों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है सभी एक दूसरे से लाभान्वित होते हैं तथा एक दूसरे की विषय सामग्री को उपयोग में लाते हुए सम्पूर्ण समाज को समझने का प्रयत्न करते है। अतः कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र से अनेक मायनों में अलग होते हुए भी उनसे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है तथा एक दूसरे पर निर्भर भी हैं।

3.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. **मानवशास्त्र–** आदिकालीन मानव की शारीरिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा उद्विकास सम्बन्धी विशेषताओं का अध्ययन करने वाला शास्त्र।
2. **आगमन पद्धति**– इस पद्धति में खोज की प्रक्रिया विशिष्ट से सामान्य की ओर चलती है।
3. **निगमन पद्धति**– इस पद्धति में खोज की प्रक्रिया सामान्य से विशिष्ट की ओर चलती है।

3.9 अभ्यास/बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1.
   - i. क्रोबर
   - ii. सरल, आदिम
   - iii. सहभागी अवलोकन पद्धति
   - iv. मानवशास्त्र
2.
   - i. असत्य
   - ii. सत्य
   - iii. सत्य
3.
   - i. हरबर्ट स्पेंसर
   - ii. बार्न्स, बेकर
   - iii. कॉम्ट

बोध प्रश्न – 2

1.
   - i. इतिहास
   - ii. समाजशास्त्र
   - iii. ऐतिहासिक समाजशास्त्र
2.
   - i. सत्य
   - ii. असत्य
   - iii. सत्य

बोध प्रश्न – 3

1.
   i. राजनीतिशास्त्र
   ii. गिलक्राइस्ट
   iii. गिडिंग्स
2.
   i. सत्य
   ii. असत्य
   iii. सत्य

बोध प्रश्न– 4

1.
   i. अर्थशास्त्र
   ii. सिल्वरमैन
   iii. वेबर
2.
   i. आर्थिक, सामाजिक
   ii. विशिष्ट
   iii. समूहवादी, व्यक्तिवादी
   iv. अर्थशास्त्र

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, जी0के0 : ''समाजशास्त्र'' साहित्य भवन आगरा।
2. गुप्ता एवं शर्मा : ''समाजशास्त्र'' साहित्य भवन आगरा।
3. मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ : ''समाजशास्त्र'' एस0बी0पी0डी0 पब्लिकेशन आगरा।

3.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पाण्डेय, एस0एस0 : 'समाजशास्त्र' टाटा मैक्ग्रॉ–हिल एजुकेशन प्रा0लि0 न्यू दिल्ली।
2. अग्रवाल, जी.के. : 'समाजशास्त्र' साहित्य भवन आगरा।
3. मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ : ''समाजशास्त्र'' एस0बी0पी0डी0 पब्लिकेशन आगरा।
4. गुप्ता एवं शर्मा : ''समाजशास्त्र'' साहित्य भवन आगरा।

3.12 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1– समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों से किस प्रकार सम्बन्धित है स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2– समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र के मध्य सम्बन्ध की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 3– समाजशास्त्र क्या है? समाजशास्त्र का किन्हीं दो सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध बताइए?

प्रश्न 4– समाजशास्त्र इतिहास तथा अर्थशास्त्र से किस प्रकार से भिन्न है?

प्रश्न 5– समाजशास्त्र किस प्रकार से राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है स्पष्ट कीजिए।

इकाई 4 समाज : अवधारणा, प्रकृति एवं प्रकार
Society-Concept, Nature & Types

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 समाज की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
4.3 मैकाइवर एवं पेज की समाज की परिभाषा की व्याख्या
4.4 समाज के आधारभूत तत्त्व
4.5 समाज की प्रकृति
4.6 समाज के प्रकार
4.7 सारांश
4.8 शब्दावली
4.9 अभ्यास प्रश्न
4.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में समाज की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसकी प्रकृति एवं समाज के प्रमुख प्रकारों को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- समाज की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- मैकाइवर एवं पेज की परिभाषा के अनुसार समाज की व्याख्या कर पाएँगे;
- समाज का निर्माण करने वाले आधारभूत तत्त्वों को स्पष्टतया समझ पाएँगे;
- समाज की प्रकृति अर्थात् इसे स्पष्ट करने वाली विशेषताओं की चर्चा कर पाएँगे; तथा
- समाज के प्रकारों का ज्ञान प्राप्त कर पाएँगे।

4.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में सामाजिक यथार्थता को व्यक्त करने हेतु अनेक अवधारणाओं (जिन्हें संकल्पनाएँ, संबोध, अथवा संप्रत्यय भी कहा जाता है) का प्रयोग किया जाता है। इन्हीं से उस विषय की शब्दावली का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ–समाज, सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक गतिशीलता, तथ्य, अनुसन्धान, सिद्धान्त आदि अवधारणाएँ ही हैं। विषय के मूल ज्ञान हेतु इन अवधारणाओं को स्पष्ट रूप से समझाना अनिवार्य होता है। प्राकृतिक विज्ञानों में प्रत्येक अवधारणा का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है, जबकि सामाजिक विज्ञानों में ऐसा नहीं है। सामाजिक विज्ञानों में एक ही अवधारणा को विविध अर्थों में प्रयोग किया जाता है। इसका परिणाम यह है कि बहुधा इन विज्ञानों की 'वैज्ञानिक प्रकृति' पर प्रश्न–चिह्न लगाने का प्रयास किया जाता है। समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ निश्चयात्मक न होकर अनिश्चयात्मक प्रकृति की होती हैं।

समाजशास्त्र में विभिन्न अवधारणाओं की अनिश्चितता का प्रमुख कारण यह है कि इन अवधारणाओं को सामान्य बोलचाल की भाषा में भी प्रयोग में लाया जाता है। इसीलिए समाजशास्त्र के क्रमबद्ध ज्ञान एवं सामान्य बौद्धिक ज्ञान में अन्तर पाया जाता है।

उदाहरणार्थ–सामान्य बोलचाल की भाषा में समाज का प्रयोग व्यक्तियों के समूह अथवा संकलन (जैसे–हिन्दू समाज, प्रर्थाना समाज, आर्य समाज, ब्रह्म समाज, शिक्षक समाज, छात्र समाज, स्त्री समाज इत्यादि) के लिए किया जाता है। यह सामान्य अर्थ समाजशास्त्र में प्रयोग नहीं किया जाता है। समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था को समाज माना जाता है। इतना ही नहीं, समाजशास्त्रीय अवधारणाओं के अर्थ को जानने हेतु सामान्यतया अंग्रेजी–हिन्दी शब्दकोशों का भी प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्र में प्रयुक्त अवधारणाएँ इनके सामान्य अथवा शब्दकोशीय अर्थ से भिन्न अर्थ रखती है। उदाहरणार्थ–'सिद्धान्त' शब्द का शब्दकोशीय अर्थ 'व्यवहार के विपरीत' अथवा 'अव्यावहारिक' है। इसलिए बहुधा यह कहा जाता है कि जो सिद्धान्त में उपयुक्त होता है वह अनिवार्य रूप से व्यवहार में नहीं। समाजशास्त्र में सिद्धान्त शब्द का अर्थ व्यवहार के विपरीत कदापि नहीं है। इसीलिए आज भी समाजशास्त्र में अनेक अवधारणाओं के बारे में मतैक्य का अभाव पाया जाता है।

समाजशास्त्र (समाज + शास्त्र) 'समाज का विज्ञान' है। इसीलिए 'समाज' समाजशास्त्र की एक प्रमुख अवधारणा है। 'समाज' के विशिष्ट अर्थ को समझे बिना हम इस विषय को सही रूप में नहीं समझ सकते हैं, अतः सर्वप्रथम 'समाज' शब्द को समझना अत्यन्त अनिवार्य है। हम सब लोग समाज में रहते हैं। समाज के बिना हमारा जीवन सम्भव नहीं है। इसीलिए यह भी कहा जाता है कि "जहाँ जीवन है, वहाँ समाज भी है।" वास्तव में, व्यक्ति एक–दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इससे ही समूहों एवं समाज का निर्माण होता है।

4.2 समाज की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

समाज का विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र में 'समाज' शब्द का प्रयोग मनमाने अर्थ में नहीं किया जाता है। समाजशास्त्र में व्यक्तियों के समूह या संकलन (एकत्रीकरण) मात्र को ही समाज नहीं कहा जाता है। व्यक्तियों में पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था को ही समाज कहा जाता है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समाज का निर्माण मात्र व्यक्तियों के संकलन से नहीं होता, इसके लिए उनमें पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों का होना अनिवार्य है। **मैकाइवर** एवं **पेज** ने इस सन्दर्भ में उचित ही कहा है कि, "समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल (Web) है।'' सामाजिक सम्बन्धों के लिए तीन बातें आवश्यक हैं–(4) व्यक्तियों को एक–दूसरे का आभास (जानकारी) होना, (2) उनमें अर्थपूर्ण व्यवहार होना तथा (3) उनका एक–दूसरे के व्यवहार से प्रभावित होना। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक–दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। विविध आवश्यकताओं (जैसे आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, परिवार सम्बन्धी या यौन आवश्यकताएँ इत्यादि) की पूर्ति के लिए उनमें अर्थपूर्ण व्यवहार होता है। यह व्यवहार एक–दूसरे की क्रियाओं से प्रभावित होता है। परस्पर अन्तर्क्रिया करते हुए व्यक्ति जिन सामाजिक सम्बन्धों के जाल में बँध जाते हैं, उसी को समाजशास्त्र में 'समाज' कहा जाता है।

सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण तभी होता है जब एक से अधिक व्यक्ति (कर्ता) परस्पर सम्पर्क स्थापित करते हैं तथा एक–दूसरे से अन्तर्क्रिया करते हैं। साथ ही यह बात भी ध्यान रखने योग्य हैं कि सामाजिक सम्बन्ध स्थायी एवं अस्थायी दोनों प्रकार के होते हैं। उदाहरणार्थ, परिवार के सदस्यों में स्थायी सम्बन्ध पाए जाते हैं, जबकि एक डॉक्टर और मरीजों, एक दुकानदार और ग्राहकों, एक बस कन्डक्टर तथा बस में बैठे यात्रियों में अस्थायी सम्बन्ध पाए जाते हैं। सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति सहयोगी एवं असहयोगी दोनों प्रकार की हो सकती है। सामाजिक सम्बन्ध असंख्य होते हैं जिसके कारण इनकी प्रकृति अत्यन्त जटिल होती है।

समाज का निर्माण इन्हीं विविध प्रकार के असंख्य सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर होता है, परन्तु यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि समाज मात्र सामाजिक सम्बन्धों का ढेर नहीं है। सामाजिक सम्बन्धों के व्यवस्थित ताने–बाने को ही हम समाज कहते हैं। **किंग्सले डेविस** (Kingsley Davis) ने इस सन्दर्भ में यह कहा है कि, ''जब सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था पनपती है तभी हम उसे समाज कहते हैं।'' अतः समाजशास्त्र में समाज का अर्थ सामाजिक सम्बन्धों का एक सुव्यवस्थित ताना–बाना अथवा जाल है।

समाज की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है क्योंकि इस शब्द को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न अर्थों में परिभाषित किया है। **गिडिंग्स** (Giddings) के अनुसार–"समाज स्वयं एक संघ है, संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का एक ऐसा योग है जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति परस्पर सम्बन्धों द्वारा जुड़े रहते हैं।" **पारसन्स** (Parsons) के अनुसार–"समाज को उन मानव सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो साधन–साध्य सम्बन्धों के रूप में क्रियाओं के करने से उत्पन्न हुए हैं, चाहे ये यथार्थ हो या प्रतीकात्मक।"

मैकाइवर एवं **पेज** (MacIver and Page) ने समाज की एक विस्तृत परिभाषा दी है, जिसमें समाज की सभी विशेषताओं एवं आधारों का समावेश है। उनके अनुसार, ''समाज रीतियों, कार्य–प्रणालियों, अधिकार व पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों तथा उसके विभागों, मानव व्यवहार पर नियन्त्रणों एवं स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तित होने वाली जटिल व्यवस्था को ही हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है तथा यह सदैव परिवर्तित होता रहता है।" इस परिभाषा में मैकाइवर एवं पेज ने समाज को "सामाजिक सम्बन्धों का जाल" कहा है। उनका यह कथन समाज की अमूर्तता की ओर संकेत करता है।

जिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार–"समाज ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जो कुछ सम्बन्धों अथवा व्यवहार की विधियों द्वारा संगठित है तथा उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इस प्रकार के सम्बन्धों द्वारा बँधे हुए नहीं हैं अथवा जिनके व्यवहार उनसे भिन्न हैं।" **रयूटर** (Reuter) के अनुसार–"(समाज) एक अमूर्त धारणा है, जोकि एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराती है।" **इंकलिस** (Inkeles) के अनुसार–"ऐसी सामाजिक व्यवस्था जो संस्थाओं से बड़ी है तथा समुदायों से भिन्न; फिर भी यह संस्थाओं के साथ न तो स्वतः उपस्थित रहती है, न ही प्रत्येक समुदायों से इसका उद्‌भव होता है। यह सबसे बड़ी इकाई है, जिसका सम्बन्ध समाजशास्त्र से है तथा इसे ही समाज कहा जाता है।" **लेपियर** (LaPiere) के अनुसार–"समाज मनुष्यों के एक समूह का नाम नहीं है वरन् यह ऐसी जटिल अन्तर्क्रियाओं का प्रतिमान है जो मनुष्यों के बीच उत्पन्न होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि समाज को मूर्त एवं अमूर्त दोनों रूपों में परिभाषित किया गया है। वस्तुतः समाज शब्द जितना सरल है उसकी परिभाषा देना उतना ही कठिन कार्य है। इसीलिए **जी0 डी0 मिशेल** (G. D. Mitchell) ने उचित ही लिखा है कि, ''समाजशास्त्री की शब्दावली में 'समाज' शब्द एक अत्यधिक अस्पष्ट एवं सामान्य शब्द है।" तथापि, अधिकांश विद्वान् समाज को सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था, जाल अथवा ताना–बाना मानते हैं। व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना मूल रूप से अपनी विविध प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रक्रिया में करता है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं, अतः समाज को भी अमूर्त माना गया है अर्थात् इसका कोई निश्चित रूप नहीं है। अगर समाज को व्यक्तियों के मूर्त समूह के रूप में परिभाषित किया जाता है तो इसे 'समाज' न कहकर 'एक समाज' कहा जाता है।

4.3 मैकाइवर एवं पेज की समाज की परिभाषा की व्याख्या

मैकाइवर एवं **पेज** की परिभाषा से हमें समाज की विशेषताओं एवं आधारों का पता चलता है। उनके द्वारा ही व्यक्तियों में पाये जाने वाले सम्बन्ध एक सुव्यवस्थित सामाजिक संरचना का निर्माण करते हैं। उनके शब्दों में, "समाज रीतियों, कार्य–प्रणालियों, अधिकार व पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों तथा उनके विभागों, मानव व्यवहार पर नियन्त्रणों एवं स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तित होने वाली जटिल व्यवस्था को ही हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है तथा यह सदैव परिवर्तित होता रहता है।'' उनकी परिभाषा में जिन आधारों का उल्लेख किया गया है, उनका अर्थ जान लेना आवश्यक है। ये आधार एवं उनका विवेचन निम्नवत् है–

(1) रीतियाँ–प्रत्येक समाज में सामाजिक व्यवहार से सम्बन्धित कुछ रीतियाँ (Usages) होती हैं। इन्हें समाज स्वीकृति प्रदान करता है। ये रीतियाँ विवाह, शिक्षा, खान–पान, वार्तालाप, संस्कार आदि से सम्बन्धित होती हैं। समाज अपने सदस्यों से अपेक्षा करता है कि वे इन रीतियों का पालन करें। ये रीतियाँ समाज को संगठन प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दू समाज में विवाह से सम्बन्धित जो नियम हैं तथा जो निषेध पाए जाते हैं वे हिन्दू समाज की आज एक प्रमुख विशेषता बन गए हैं। ये नियम और निषेध अन्य सम्प्रदायों एवं समाजों से भिन्न हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक समाज में भोजन तथा खान–पान से सम्बन्धित नियम होते हैं। सदस्यों को इनका पालन करना आवश्यक होता है। मान्यता प्राप्त व्यवहार की प्रणालियाँ होने के नाते, विभिन्न रीतियाँ समाज का महत्त्वपूर्ण आधार बन जाती है। ये रीतियाँ समाज के संगठन, सामाजिक सम्बन्धों के निर्धारण व व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

(2) कार्य–प्रणालियाँ–इनसे मैकाइवर एवं पेज का अभिप्राय संस्थाओं से है। समाज में एकता तथा संगठन बनाए रखने के लिए कार्य–प्रणालियों (Procedures) का होना आवश्यक है। यदि समाज के सदस्य निश्चित कार्य–प्रणाली को छोड़ अपने स्वेच्छाचारी ढंग से कार्य करना शुरू कर दें तो समाज का सन्तुलन नष्ट हो जाएगा। प्रत्येक समाज में लक्ष्यों या उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कुछ निश्चित कार्य–प्रणालियाँ होती हैं। उनके अनुसार ही लोग उचित ढंग से कार्य करते हैं। कार्य–प्रणाली आवश्यकताओं की प्रकृति पर निर्भर करती है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न–भिन्न कार्य–प्रणालियों का निर्धारण किया जाता है। उदाहरण के लिए, हिन्दू समाज में विवाह संस्कार की कार्य–प्रणाली का एक विशेष ढंग होता है। अतः कार्य– प्रणालियाँ व्यक्तियों के उद्देश्यों को पूरा करने के सरल तथा मान्यता प्राप्त साधन प्रस्तुत करती हैं।

(3) अधिकार–अधिकार (Authority) के अभाव में समाज में अव्यवस्था, असन्तुलन व अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः समाज के संगठन के लिए अधिकार की भावना का पाया जाना अनिवार्य है। अधिकार के द्वारा समाज में नियन्त्रण रखा जाता है। अधिकार या सत्ता राज्य में राजा या शासक के पास होती है। यह परिवार में कर्त्ता या किसी संस्था के प्रधान के पास हो सकती है। इन अधिकारों के प्रति आज्ञाकारिता का भाव निहित होने के कारण ही व्यक्ति मान्यताओं के अनुकूल व्यवहार करता है। उदाहरण के लिए, परिवार में पिता या कर्त्ता अपने अधिकार के कारण ही सदस्यों को निश्चित व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है तथा उन्हें नियन्त्रित करता है। ठीक उसी प्रकार, शिक्षा संस्थाओं में प्राचार्य का भी यही कार्य होता है।

(4) पारस्परिक सहयोग–सहयोग के अभाव में समाज की व्यवस्था नष्ट हो जाती है। इससे समाज का जीवन भी खतरे में पड़ जाता है। साथ ही, सहयोग के अभाव में सामाजिक सम्बन्धों का जन्म नहीं होता। जब सामाजिक सम्बन्धों का जन्म ही नहीं होगा तब समाज का जन्म कैसे होगा? इसके अतिरिक्त मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ हैं। मनुष्य बिना पारस्परिक सहयोग (Mutual aid) के इन आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष रूप से, उसे अन्य सदस्यों से सहयोग लेना तथा सहयोग प्रदान करना पड़ता है। पारस्परिक सहयोग समाज को संगठित करता है व उसे स्थायित्व प्रदान करता है।

(5) समूह तथा विभाग–समाज एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है। इसके अन्तर्गत अनेक समूह तथा विभाग (Groupings and divisions) होते हैं; जैसे–परिवार, गाँव, नगर, पड़ोस, समितियाँ आदि। मानव के सम्बन्ध–निर्माण में अनेक इकाइयों का योगदान होता है। प्रत्येक इकाई (चाहे परिवार हो, गाँव हो, समिति हो) मानव के सम्बन्धों को प्रभावित करती है और इन्हीं इकाइयों से समाज का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए, मानव शरीर को ही लीजिए। शरीर के विभिन्न अंग होते हैं; जैसे–हाथ, पैर, नाक, कान आदि। इन सबसे शरीर की रचना हुई है। ये अंग जितने उपयुक्त ढंग से कार्य करेंगे, हमारा शरीर उतना ही स्वस्थ रहेगा। इसी प्रकार, समाज के विभिन्न अंग या इकाइयाँ जितने व्यवस्थित ढंग से कार्य करेंगे उतना ही व्यवस्थित तथा संगठित समाज होगा।

(6) मानव व्यवहार पर नियन्त्रण–समाज को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए नियन्त्रण (Control) आवश्यक है। इसके अभाव में मानव स्वेच्छाचारी हो जाएगा। नियन्त्रण के कारण व्यक्ति अपने व्यवहार समाज के मूल्यों के अनुरूप करता है। **किंग्सले डेविस** के अनुसार, बिना सामाजिक नियन्त्रण के समाज का अस्तित्व ही न रह सकेगा। सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सामूहिक तथा व्यक्तिगत दोनों प्रकार के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। नियनत्रण चाहे धर्म, प्रथा, परम्परा, रूढ़ियों के द्वारा (अनौपचारिक नियनत्रण) हो अथवा कानून या प्रशासन (औपचारिक नियन्त्रण) के द्वारा, प्रत्येक समाज में नियन्त्रण के कुछ तरीके अवश्य ही होते हैं। इनके माध्यम से ही व्यक्तियों पर अंकुश रखा जाता है। इन नियमों का पालन न करने पर दण्ड की व्यवस्था होती है। **जे0 एस0 रौसेक** (J. S. Roucek) के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा ही व्यक्ति अपने आचरण को सामाजिक आदर्शों के अनुसार बनाता है।

(7) स्वतन्त्रता–अगर समाज में सिर्फ नियन्त्रण ही हो तो भी समाज के अस्तित्व को खतरा हो सकता है। अच्छे और स्वस्थ सम्बन्धों के जन्म तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतन्त्रता (Liberty) आवश्यक है। यदि समाज में नियन्त्रण ही रहे व किसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्रदान न की जाए, तो समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। समाज में प्रत्येक सदस्य को इतनी स्वतन्त्रता दी जाती है कि वह अपने तर्क और बुद्धि के सहारे या दूसरे के विचारों के सहारे अपने जीवन के स्तर को सुधार सके।

4.4 समाज के आधारभूत तत्त्व

समाज का अर्थ जान लेने के पश्चात् इसके निर्णायक अथवा आधारभूत तत्त्वों का पता होना भी अनिवार्य है। इन आधारभूत तत्त्वों को कई बार समाज की सामाजिक आवश्यकताएँ (Social necessities) भी कहा जाता है। ये निर्णायक तत्त्व प्रत्येक समाज, चाहे वह पशु समाज हो या मानव समाज, में पाए जाते हैं। समाज के आधारभूत तत्त्व निम्नलिखित हैं–

(अ) डेविस के विचार

किंग्सले डेविस ने समाज की प्राथमिक आवश्यकताओं या निर्णायक तत्त्वों को निम्नलिखित चार श्रेणियों में विभाजित किया है–

(1) जनसंख्या का प्रतिपालन–जनसंख्या को बनाए रखने के लिए कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। इनकी पूर्ति के द्वारा ही जनसंख्या का निर्वाह होता है। ये आवश्यकताएँ निम्नांकित हैं–

(i) पोषण का प्रबन्ध–जनसंख्या में सदस्यों को उचित पालन–पोषण की आवश्यकता होती है। भोजन के द्वारा उन्हें जीवन सम्बन्धी सुरक्षा की प्राप्ति होती है।

(ii) क्षति के विरुद्ध संरक्षण–जनसंख्या को बनाए रखने के लिए सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करना समाज का दूसरा कार्य है। बाढ़, महामारी, अकाल इत्यादि ऐसी दुर्घटनाएँ हैं जिनसे मनुष्य का सम्पूर्ण अस्तित्व नष्ट हो जाता है। समाज इनके विरुद्ध अपने सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करता है।

(iii) नए जीवों का पुनरुत्पादन–नवीन प्राणियों की उत्पत्ति समाज की जनसंख्या को बनाए रखने में सहायक होती है। यदि उत्पत्ति न हो, तो समाज ही समाप्त हो जाएगा। इसलिए नवीन प्राणियों की उत्पत्ति समाज का आवश्यक तत्त्व है।

(2) जनसंख्या के बीच कार्य का विभाजन–सदस्यों में उचिम श्रम–विभाजन समाज के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। इससे मनुष्यों में पारस्परिक सहयोग की भावना पनपती है। सहयोग की भावना के होने से संगठन में दृढ़ता भी आती है। श्रम–विभाजन से मनुष्यों को पदों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है और वे पदों के अनुरूप दायित्व का निर्वाह करते हैं।

(3) समूह का संगठन–समाज के सदस्यों के मध्य एकता की भावना समाज का अनिवार्य तत्त्व है। सम्पर्कों के आधार पर प्राणियों में अन्तर्क्रियाएँ होती हैं। इसी के फलस्वरूप उनमें सहयोगात्मक व असहयोगात्मक भावनाएँ विकसित होती हैं। समूह सभी सदस्यों से सहिष्णुता एवं सहयोग की आशा करता है। भेदभाव, असहयोग, असहिष्णुता आदि कटुता को जन्म देते हैं। इसीलिए समाज सदस्यों से इनकी आशा नहीं करते हैं। अतः इसमें दो बातें प्रमुख हैं–

(i) सदस्यों के मध्य सम्पर्क की प्रेरणा (Motivation of contact between members) तथा

(ii) पारस्परिक सहिष्णुता की प्रेरणा तथा बाहरी तत्त्वों का प्रतिरोध (Motivation of mutual tolerance and resistance to outsiders)।

(4) सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता–प्रत्येक समाज के स्थायित्व एवं निरन्तरता के लिए सामाजिक व्यवस्था में निरन्तरता एवं स्थिरता अनिवार्य है। इसी के फलस्वरूप व्यवस्था पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होती है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था का स्थिर होना अत्यन्त ही आवश्यक है।

(ब) बॉटोमोर के विचार

टी0 बी0 बॉटोमोर ने भी समाज के अस्तित्व के लिए अनिवार्य व्यवस्थाओं व प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है जिन्हें समाज की प्रकार्यात्मक पूर्व–आवश्यकताएँ कहा जा सकता है। जो न्यूनतम आवश्यकताएँ प्रतीत होती हैं, वे निम्नलिखित हैं–

(1) संचार की एक व्यवस्था,

(2) वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण से सम्बन्धित आर्थिक व्यवस्था,

(3) नवीन पीढ़ी का समाजीकरण करने वाली व्यवस्थाएँ (परिवार व शिक्षा सहित),

(4) सत्ता व शक्ति के वितरण की व्यवस्था तथा

(5) सामाजिक समन्वय को बनाए रखने अथवा बढ़ाने के लिए संस्कारों की व्यवस्था (जो महत्त्वपूर्ण घटनाओं; जैसे–जन्म वयस्कता, विवाह तथा मृत्यु आदि को सामाजिक मान्यताएँ प्रदान कर सके)।

(स) जॉनसन के विचार

हेरी एम0 जॉनसन ने समाज को मूर्त माना है। उनके अनुसार समाज के चार अनिवार्य तत्त्व हैं। ये निम्नलिखित हैं–

(1) निश्चित भू–भाग–समाज एक भू–भागीय समूह है। व्यक्तियों द्वारा किन्हीं निश्चित सीमाओं में रहने के परिणामस्वरूप ही समाज का निर्माण होता है।

(2) यौन प्रजनन–समाज के सदस्यों की भर्ती तथा समाज की निरन्तरता, समूह के भीतर ही की जाने वाली यौन प्रजनन प्रक्रिया द्वारा होती है।

(3) सर्वांगव्यापी संस्कृति–बिना संस्कृति के समाज अपूर्ण है। अतः एक सर्वांगव्यापी संस्कृति का होना समाज के लिए अनिवार्य है।

(4) आत्म–निर्भरता–समाज का एक अन्य अनिवार्य तत्त्व यह है कि वह किसी समूह का उपसमूह नहीं होता। इस कसौटी के आधार पर उन समूहों को भी समाज कहा जा सकता है जोकि राजनीतिक दृष्टि से अन्य समूह के अधीन होते हुए भी पूर्णतः उसमें समा नहीं पाए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न विद्वानों ने समाज के आधारभूत तत्त्वों की विवेचना समाज के अपने अर्थ के अनुरूप की है।

4.5 समाज की प्रकृति

विभिन्न समाजशास्त्रीयों ने समाज की परिभाषाएँ जिन शब्दों में दी हैं उनसे समाज की कुछ विशेषताएँ भी स्पष्ट होती हैं। समाज की कतिपय प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) समाज सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था है–बिना सामाजिक सम्बन्धों के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाज के सदस्यों में पाए जाने वाले निश्चित सामाजिक सम्बन्धों के जाल अथवा व्यवस्था द्वारा सभी सदस्य एक–दूसरे से बँधे रहते हैं। ये सम्बन्ध अव्यवस्थित, मनमाने अथवा पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं होते हैं, अपितु इनकी स्थापना हेतु समाज में पाए जाने वाले सांस्कृतिक आदर्शों एवं मूल्यों के अनुरूप होती है। समाज के सदस्य इन सम्बन्धों की स्थापना अपनी मानसिक सन्तुष्टि, सामान्य हितों की पूर्ति, पारस्परिक निर्भरता तथा सामाजिक दायित्वों के निर्वाह हेतु करते हैं। विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित इन्हीं सम्बन्धों द्वारा सदस्यों के व्यक्तित्व का विकास भी होता है। सदस्यों में पाए जाने वाले व्यापक सम्बन्धों के एक निश्चित ढाँचे अथवा व्यवस्था को ही समाज कहा जाता है। यदि किसी समाज में सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति सरल एवं प्राथमिक होती है तो समाज को सरल समाज कहते हैं। इसके विपरीत यदि सम्बन्धों की प्रकृति अप्रत्यक्ष, औपचारिक, द्वितीयक एवं जटिल होती है तो ऐसे समाज जटिल समाज कहलाते हैं। पहले प्रकार के समाजों का आकार सीमित होता है, पारस्परिक सहयोग के कारण हम की भावना पाई जाती है, व्यक्तियों की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं, श्रम–विभाजन एवं विशेषीकरण का अभाव पाया जाता है, सजातीयता अधिक पाई जाती है, प्रदत्त गुणों का महत्त्व होता है, अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण प्रभावी होता है तथा परिवर्तन की गति अत्यन्त धीमी होती है। इसके विपरीत जटिल समाजों का आकार व्यापक होता है, सहयोग के स्थान पर प्रतिस्पर्धा एवं प्रतियोगिता की भावना अधिक पायी जाती है, सदस्यों की आवश्यकताएँ अत्याधिक

होती हैं, विकसित श्रम–विभाजन पाया जाता है, गतिशीलता अधिक होती है, औपचारिक नियन्त्रण अधिक महत्त्वपूर्ण होता है तथा परिवर्तन की गति तीव्र होती है।

(2) समाज अमूर्त है–समाज मनुष्यों या मूर्त समूह कदापि नहीं है, अपितु यह सदस्यों में पाए जाने वाले व्यापक सामाजिक सम्बन्धों का ताना–बाना या व्यवस्था है। क्योंकि सम्बन्धों का कोई स्वरूप नहीं होता, इसलिए समाज भी अमूर्त होते हैं। इस सन्दर्भ में **रयूटर** (Reuter) ने उचित ही लिखा है कि, "जिस प्रकार जीवन एक वस्तु नहीं है, बल्कि जीवित रहने की प्रक्रिया है, उसी प्रकार समाज एक वस्तु नहीं है, बल्कि सम्बन्ध स्थापित करने की प्रक्रिया है।" **राइट** (Wright) की इस परिभाषा से भी समाज की अमूर्तता के बारे में पता चलता है कि, "समाज व्यक्तियों का समूह नहीं है, यह समूह के सदस्यों के मध्य स्थापित सम्बन्धों की व्यवस्था है।" सम्बन्ध क्योंकि अमूर्त हैं इसलिए समाज भी अमूर्त है। जब से मैकाइवर एवं पेज की समाज की परिभाषा अत्यन्त लोकप्रिय हुई है, तभी से समाज की प्रकृति को अमूर्त माना जाता है। इसके बारे में विद्वानों में मतभेद है। **हेरी एम0 जॉनसन** जैसे विद्वान् समाज के स्वरूप को मूर्त मानते हैं। ऐसे समाज को विद्वानों ने 'एक समाज' की संज्ञा दी है। अतः यह कह सकते हैं कि 'एक समाज' व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्हीं सम्बन्धों अथवा व्यवहार के तरीकों द्वारा संगठित होता है तथा निश्चित भू–भाग में निवास करता है। 'एक समाज' सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था न होकर व्यक्तियों का समूह होने के नाते मूर्त माना जाता है। सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक नियमों आदि को हम अनुभव कर सकते हैं, परन्तु देख नहीं सकते हैं। इसी अर्थ में समाज को अमूर्त (अगोचर) माना जाता है।

(3) समाज में सहयोग एवं संघर्ष–समाज के सदस्यों के मध्य सहयोगात्मक तथा असहयोगात्मक दोनों प्रकार के सम्बन्ध पाए जाते हैं। ये दोनों ही प्रकार के सम्बन्ध समाज के लिए आवश्यक भी हैं। सहयोग के द्वारा सामाजिक सम्बन्ध निर्मित होते हैं। संघर्ष के द्वारा सामाजिक समस्याओं का निराकरण होता है। सहयोग और संघर्ष एक प्रकार से जीवन के दो पहलू हैं। यदि इन्हें एक–दूसरे का पूरक भी कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस सम्बन्ध में जॉर्ज सिमेल (Georg Simmel) का कथन है कि समाज में दो प्रकार की शक्तियों का समावेश होता है–एक तो वे शक्तियाँ जो मनुष्यों को एक सूत्र में बाँधती हैं और दूसरी वे शक्तियाँ जो उन्हें पृथक् कर देती हैं।

(अ) समाज में सहयोग–मानव समाज एक जटिल व्यवस्था है। समाज के सदस्य एक–दूसरे से सहयोग करते हुए अपने लक्ष्यों (आवश्यकताओं) की पूर्ति करते हैं। मनुष्य की आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं है। यह भी सम्भव नहीं है कि वह प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति स्वयं ही कर ले। अतः मानव का सामाजिक जीवन सहयोग पर ही आधारित होता है। सहयोग दो प्रकार का होता है–

(i) प्रत्यक्ष सहयोग–प्रत्यक्ष सहयोग वहाँ प्रदान किया जाता है जहाँ व्यक्ति आमने–सामने (Face-to-face) के सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार में प्रत्येक सदस्य आमने–सामने का सम्बन्ध रखता है। वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक–दूसरे से सहयोग करते हैं। प्रत्यक्ष सहयोग में समान कार्य व उद्देश्य का होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में यह स्मरण रखना होगा कि प्रत्यक्ष सहयोग का अर्थ स्वयं के कार्यों से अन्य को लाभ पहुँचाना नहीं है। इसका अर्थ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिल–जुलकर प्रयास करना होता है। ऐसा सहयोग सरल समाजों में पाया जाता है।

(ii) अप्रत्यक्ष सहयोग–अप्रत्यक्ष सहयोग जटिल समाजों में अधिक पाया जाता है। इसमें उद्देश्यों व लक्ष्यों में तो समानता होती है, परन्तु उसकी प्राप्ति हेतु सभी सदस्य मिलकर एक साथ

एक–सा प्रयत्न नहीं करते। सदस्य इन उदेश्यों व लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अलग–अलग प्रयास करते हैं। वे अलग–अलग साधन भी अपना सकते हैं। अप्रत्यक्ष सहयोग का अर्थ समान उद्देश्यों को पाने के लिए असमान कार्य करने से है। उदाहरण के लिए, रेलगाड़ी तैयार करना। अलग–अलग लोग अपनी योग्यता और पद के अनुसार रेलगाड़ी के विभिन्न हिस्से बनाते हैं, लेकिन सभी का एक ही उद्देश्य है कि रेलगाड़ी बन जाए। इस प्रकार वे अप्रत्यक्ष सहयोग से रेलगाड़ी का निर्माण करते हैं। श्रम–विभाजन (Division of labour) अप्रत्यक्ष सहयोग का सर्वोत्तम उदाहरण है। समाज में महत्त्व की दृष्टि से दोनों प्रकार के सहयोग एक समान हैं।

(ब) समाज में संघर्ष–प्रत्येक मनुष्य जैविक, मानसिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भिन्न होता है। अतएव समाज में संघर्ष की उत्पत्ति होती है। समाज में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं, उद्देश्यों व लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संघर्ष का आश्रय लेता है। वस्तुतः जीवन एक संघर्ष है। कार्ल मार्क्स ने कहा है कि वर्ग संघर्ष ही समाज के परिवर्तन का मूल कारण है। यह संघर्ष हिंसक तथा अहिंसक दोनों रूपों में हो सकता है। संघर्ष को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) प्रत्यक्ष संघर्ष–प्रत्यक्ष सम्पर्क होने पर विकसित संघर्ष को प्रत्यक्ष संघर्ष कहा जाता है। दो व्यक्तियों या समूहों में संघर्ष (जैसे साम्प्रदायिक दंगे, युद्ध, दो मित्रों में झगड़ा, परिवार के सदस्यों में संघर्ष या पति–पत्नी के मध्य संघर्ष तथा विवाह–विच्छेद आदि) प्रत्यक्ष संघर्ष के उदाहरण हैं।

(ii) अप्रत्यक्ष संघर्ष–इसके अन्तर्गत व्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे व्यक्तियों के हितों में बाधा पहुँचाने की चेष्टा करता है। अप्रत्यक्ष संघर्ष में व्यक्ति अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरों के स्वार्थों का हनन करता है, लेकिन इसमें वह दूसरों से प्रत्यक्ष रूप से परिचित नहीं होता है। सभी प्रकार की प्रतियोगिताएँ अप्रत्यक्ष संघर्ष का उदाहरण हैं। उदाहरण के लिए, साइकिल बनाने वाली दो कम्पनियाँ हैं। हो सकता है कि उनके मालिक व्यक्तिगत रूप से एक–दूसरे को न जानते हैं, लेकिन दोनों यह चाहते हैं कि उनका माल बाजार में अधिक बिके तथा इसके लिए वे अनेक प्रयत्न करते हैं। यह अप्रत्यक्ष संघर्ष है। अप्रत्यक्ष संघर्ष का क्षेत्र आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक हो सकता है।

(4) समाज में समानता और विभिन्नता–समाज में समानता तथा विभिन्नता पाई जाती है। बाह्य दृष्टिकोण से दोनों परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, पर वास्तविकता में ये परस्पर पूरक हैं। इन्हीं के द्वारा समाज को स्थायित्व व निरन्तरता प्राप्त होती है। समानता के कारण संस्थाओं का जन्म होता है। विभिन्नता के कारण संस्थाओं में परिवर्तन तथा कार्यों में सुधार होता है।

(अ) समाज में समानता–समाज के निर्माण में सामाजिक सम्बन्धों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। सामाजिक सम्बन्धों के अभाव में समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सम्बन्धों की उत्पत्ति के लिए पारस्परिक चेतना एवं समानता का होना अत्यन्त आवश्यक है। यह समानता शारीरिक अथवा मानसिक रूप में हो सकती है। इसी समानता के कारण चेतना होगी तथा उससे सम्बन्धों का जन्म होगा। किसी निर्जीव वस्तु के साथ व्यक्ति अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता है। इसका कारण यह है कि दोनों में पारस्परिक चेतना का जन्म नहीं होता, अतः सम्बन्धों की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। किन्तु यदि दो मनुष्य हैं व उनमें किसी भी क्षेत्र में समानता पाई जाती है तो उनमें सम्बन्धों का जन्म होगा।

गिडिंग्स ने इसे 'समानता की चेतना' कहा है। **मैकाइवर** एवं **पेज** का विचार है कि यदि हम एक विश्व के सिद्धान्त पर विजय पाना चाहते हैं तो ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब हम समस्त मानव प्रजाति के आधारभूत तत्त्व की समानता की मान्यता प्राप्त करें।

(ब) समाज में विभिन्नता–समाज के लिए विभिन्नता भी महत्त्व रखती है। यद्यपि बाहरी रूप से विभिन्नताएँ समानताओं के विपरीत प्रतीत होती हैं, तथापि वास्तविकता में ये उनकी पूरक हैं। यदि समाज के सभी सदस्य जैविक व मानसिक दृष्टिकोण में समान होते हैं, तो मानव व्यवहार यन्त्रवत् हो जाता। ऐसी अवस्था में मानव समाज व पशु समाज के मध्य काई अन्तर नहीं रह जाता। **मैकाइवर** एवं **पेज** का कथन है कि यदि समाज के सदस्य सभी क्षेत्रों में एक–दूसरे के समान होते, तो उनके सम्बन्ध उतने ही सीमित हो जाते जितने कि चींटियों तथा मधुमक्खियों के समाज में पाए जाते हैं। मनुष्य के अनेक सामाजिक उद्देश्य हैं; जैसे–शरीर रक्षा, भोजन प्राप्त करना, सांस्कृतिक कार्य, सामाजिक कार्य आदि। इन लक्ष्यों या उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भिन्न–भिन्न तरीके या साधन हैं। समाज में इसी कारण व्यक्तियों के विभिन्न पद एवं भूमिकाएँ होती हैं। समाज में अनेक भिन्नताएँ; जैसे पेशे में भिन्नता, व्यापार में भिन्नता, कार्यों में भिन्नता आदि पाई जाती हैं। योग्यता में भिन्नता के कारण ही समाज में व्यक्तियों को उच्च व निम्न स्थान प्रदान किए जाते हैं। ऐसे समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जहाँ सिर्फ पुरुष ही पुरुष या स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ हैं। समाज में विद्यमान विभिन्नताओं को निम्नलिखित तीन प्रमुख प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है–

(i) जैविक भिन्नताएँ–इनका उदाहरण शारीरिक संरचनाएँ व यौन भिन्नताएँ हैं।

(ii) प्राकृतिक भिन्नताएँ–इसके अन्तर्गत मानसिक भिन्नताओं व कार्यक्षमताओं में अन्तर आदि आते हैं।

(iii) सामाजिक तथा सांस्कृतिक भिन्नताएँ–उद्देश्यों, मनोवृत्तियों, प्रथाओं, रहन–सहन, जीवन–पद्धति व रुचियों में भिन्नताएँ सामाजिक–सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं।

(5) समाज का आधार अन्योन्याश्रितता है–मनुष्यों की अनेक आवश्यकताएँ होती है। इन आवश्यकताओं को जैविक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि उपखण्डों में बाँटा जा सकता है; लेकिन किसी व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं कि वह इन आवश्यकताओं को अपने आप या बिना किसी की सहायता के पूरा कर ले। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे दूसरे पर आश्रित रहना पड़ता है। मनुष्य की एक प्रमुख आवश्यकता यौन तृप्ति है। इसके लिए स्त्री–पुरुष परस्पर निर्भर होते हैं। बाल्यावस्था में बच्चा अपने पालन–पोषण एवं शिक्षण के लिए परिवार के सदस्यों पर (विशेषकर माता–पिता पर) निर्भर होता है। माता–पिता के वृद्ध होने पर उन्हें सन्तान पर निर्भर होना पड़ता है। **दुर्खीम** के अनुसार आधुनिक समाजों में व्यक्ति श्रम–विभाजन के कारण एक–दूसरे पर आश्रित होते हैं।

(6) समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है–पारस्परिक सम्बन्धों से ही समाज का जन्म होता है। इन सम्बन्धों की स्थापना के लिए पारस्परिक जागरूकता का होना आवश्यक है। सभी जीवधारियों में जागरूकता पाई जाती है, भले ही जागरूकता की मात्रा कम हो। इसलिए जीवधारियों, चाहे वे पशु या या कीट–पतंगे हों, में समाज पाया जाता है। मधुमक्खियों, चींटियों तथा दीमकों में समाज पाया जाता है। उनमें श्रम–विभाजन भी पाया जाता है तथा सामाजिक व्यवस्था भी। हाथियों में सुनियोजित सामाजिक व्यवस्था पाई जाती है। इसी सन्दर्भ में **मैकाइवर** एवं **पेज** ने यह कहा है कि 'जहाँ कहीं भी जीवन है, वहाँ समाज है।'

(7) निरन्तर परिवर्तनशील–समाज एवं उसमें व्याप्त सम्बन्धों की व्यवस्था स्थिर न होकर परिवर्तनशील है। समाज में समयानुसार निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। **मैकाइवर** एवं **पेज** ने सामाजिक सम्बन्धों की सदैव परिवर्तित होने वाली जटिल व्यवस्था को ही समाज कहा है।

उनके शब्दों में, यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है जो सदैव परिवर्तित होता रहता है। **स्पेन्सर** ने परिवर्तन को समाज का नियम माना है जो कम या अधिक गति से निरन्तर होता रहता है।

4.6 समाज के प्रकार

समाजों को बहुधा 'समाज' एवं 'एक समाज' तथा 'सरल समाज' तथा 'जटिल समाज' के रूप में समझाने का प्रयास किया जाता है। इनका उल्लेख हम समाज की प्रकृति में कर चुके हैं। समाजशास्त्र में समाजों के विविध प्रकारों पर काफी चर्चा हुई है तथा अभी भी यह चर्चा उस स्तर पर है जिसमें निश्चित रूप से समाज का कोई सर्वमान्य वर्गीकरण सामने नहीं आ पाया है। समाजशास्त्र एक विज्ञान है। अतः इसमें भी अन्य विज्ञानों की भाँति विषय–वस्तु का वर्गीकरण किया जाता है। प्रारम्भ में, अधिकांश समाजशास्त्रियों ने समाज का द्वैत वर्गीकरण प्रस्तुत किया अर्थात् इसे दो श्रेणियों में विभाजित किया। उदाहरण के लिए, टॉनीज ने गेमाइनशाफ्ट (Gemeinschaft) तथा गेसेलशाफ्ट (Gesellschaft) में, दुर्खीम ने यान्त्रिक एकता (Mechanical solidarity) तथा सावयविक एकता (Organic solidarity) में, हेनरी मेन ने प्रस्थिति (Status) तथा अनुबन्ध (Contract) में, और स्पेन्सर ने संघर्षशील (Militant) तथा औद्योगिक (Industrial) समाज में समाजों का विभाजन किया है। परन्तु आज इन द्वैत वर्गीकरणों को स्वीकार नहीं किया जाता क्योंकि इनकी सबसे बड़ी कमी यह है कि इनमें सभी प्रकार के समाजों का समावेश नहीं हो पाता है।

जहाँ पर कुछ विद्वानों के वर्गीकरण का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है–

(1) टॉनीज का वर्गीकरण–टॉनीज ने सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर समाजों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है–

(i) **गेमाइनशाफ्ट (Gemeinschaft),** तथा

(ii) **गेसेलशाफ्ट (Gesellschaft)**।

प्रथम श्रेणी में टॉनीज ने औद्योगीकरण के पूर्व के समाजों को सम्मिलित किया है, जबकि दूसरी श्रेणी में औद्योगीकृत समाजों को। गेमाइनशाफ्ट (बद्ध समाज) में, टॉनीज के अनुसार, उच्च कोटि की सामाजिक एकता (Social cohesion) तथा समुदाय व समाज के प्रति उच्चकोटि की प्रतिबद्धता पाई जाती है। सदस्यों में अपने समाज के मूल्यों और मानकों के बारे में पूर्ण मतैक्य (एक मत) रहता है। इसमें सामाजिक सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से विद्यमान होते हैं, स्वेच्छा से या सोच–विचारकर स्थापित नहीं किए जाते। इसके विपरीत, गेसेलशाफ्ट (संघ समाज) में सामाजिक सम्बन्ध कृत्रिम रूप से स्थापित किए जाते हैं अर्थात् व्यक्ति परस्पर लाभ की सम्भावना और विनिमय की भावना से प्रेरित होकर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करते हैं और यही सम्बन्ध उन्हें एक–दूसरे से बाँधकर रखते हैं। इस वर्गीकरण में द्वैत वर्गीकरण के सभी दोष पाए जाते हैं। पहले तो यह अति सरल है तथा दूसरे औद्योगिक समाजों की बहुत सी विशेषताएँ पूर्व–औद्योगिक समाजों में तथा पूर्व–औद्योगिक समाजों की औद्योगिक समाजों में पाई जाती हैं।

(2) स्पेन्सर का वर्गीकरण–स्पेन्सर ने आकार, श्रम–विभाजन की मात्रा, राजनीतिक संगठन में जटिलता, धार्मिक उच्चोच्च परम्परा के विकास तथा सामाजिक स्तरीकरण के आधार पर समाजों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है–

(i) **सरल समाज** (Simple societies),

(ii) **मिश्रित समाज** (Compound societies),

(iii) **दोहरे मिश्रित समाज** (Doubly compound societies), तथा

(iv) **तिहरे मिश्रित समाज** (Trebly compound socieites)।

स्पेन्सर ने प्रथम तीन श्रेणियों में आदिम समाजों का समावेश किया है। यद्यपि वह इन तीनों को आकार, श्रम–विभाजन के विकास, धर्म तथा परम्पराओं के स्थान, राजनीतिक संगठन की जटिलता तथा सामाजिक स्तरीकरण के आधारों की दृष्टि से अन्तर करने का प्रयास करता है, तथापि वह इसमें पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाया है। उनके द्वारा प्रस्तुत समाजों के वर्गीकरण में उद्विकासीय दृष्टिकोण (Evolutionary approach) का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। चौथी श्रेणी के समाजों में उन्होंने प्राचीन मैक्सिको, सीरियाई साम्राज्य, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली तथा रूस जैसे समाजों को सम्मिलित किया है।

(3) दुर्खीम का वर्गीकरण–दुर्खीम ने अपनी सर्वप्रथम पुस्तक **समाज में श्रम–विभाजन** (The Division of Labour in Society) में सामाजिक एकता के आधार पर प्राचीन तथा आधुनिक समाजों में अन्तर करने का प्रयास किया है। प्राचीन समाजों में यान्त्रिक एकता पाई जाती है, जबकि आधुनिक समाजों में सावयविक एकता। यान्त्रिक एकता वाले समाजों में सभी व्यक्ति एक समान कार्यों में लगे होते हैं तथा श्रम–विभाजन बहुत ही कम पाया जाता है, जबकि सावयविक एकता वाले समाजों का आधार विकसित श्रम–विभाजन एवं अन्योन्याश्रितता है।

शायद दुर्खीम ने अपने इस द्वैत वर्गीकरण की कमजोरी को स्वयं अनुभव किया तथा अपनी दूसरी पुस्तक **समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम** (The Rules of Sociological Method) में समाजों में वर्गीकरण का नवीन आधार प्रस्तुत किया। उनके अनुसार समाजों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) सरल समाज (Simple societies),

(ii) सरल बहुखण्डीय समाज (Simple polysegmentary societies),

(iii) सरल मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Simply compounded polysegmentary societies), तथा

(iv) दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Doubly compounded polysegmentary societies)।

दुर्खीम के अनुसार सरल समाज वह है जिसके आगे खण्ड नहीं होते जैसे कि एक झुण्ड (Horde)। यह एक अकेला तथा क्रियाशील समूह है जो किसी के अधीन नहीं है और केन्द्रीय नियन्त्रण की कोई व्यवस्था न होने पर भी सदस्य सार्वजनिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए एक–दूसरे को सहयोग देते हैं। जब अनेक सरल समाज आपस में मिल जाते हैं तो सरल बहुखण्डीय समाज का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ, इरोक्यूस जनजातियाँ (Iroquois tribes) और फ्रेटरी (Phratry)। सरल मिश्रित बहुखण्डीय समाज के उदाहरण मिश्रित विशेषताओं वाली विभिन्न जनजातियाँ हैं, जबकि दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाजों के उदाहरण प्राचीन समाज हैं। यद्यपि दुर्खीम का वर्गीकरण अन्य वर्गीकरणों से अच्छा माना जाता है फिर भी वे इस बात को पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं कर पाए कि अधिकांश आधुनिक तथा विकासशील समाज किस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

(4) मार्क्स का वर्गीकरण–मार्क्स ने समाजों का वर्गीकरण आर्थिक संरचना के आधार पर किया है। टी0बी0 बॉटोमोर ने मार्क्स के वर्गीकरण को सर्वोत्तम वर्गीकरण बताया है क्योंकि इसके द्वारा समाज की एक अथवा अनेक प्रमुख संस्थाओं के विभिन्न स्वरूपों में भेद किया जा सकता है। मार्क्स ने समाजों को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया है–

(i) आदिम समाज (Primitive societies), जैसे विभिन्न जनजातीय समाज,

(ii) एशियाई समाज (Asiatic societies), जैसे चीन, भारत, मध्यकाल के रूस का कुछ भाग,

(iii) प्राचीन समाज (Ancient societies), जैसे रोम एवं यूनान,

(iv) सामन्तवादी समाज (Feudal societies), जैसे 7वीं शताब्दी से 40वीं शताब्दी का पश्चिमी यूरोप तथा

(v) पूँजीवादी समाज (Capitalist societies), जैसे औद्योगीकृत पश्चिमी समाज।

आदिम समाजों में उत्पादन के साधनों पर पूरे समुदाय का समान अधिकार होता है तथा श्रम–विभाजन एवं वर्ग–भेद बहुत ही कम पाया जाता है। कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था वाले समाज को एशियाई समाज; परम्पराओं की प्रधानता वाले समाज को प्राचीन समाज; भूमि तथा उत्पादन के साधनों पर सामन्तों या जमींदारों के अधिकार वाले समाजों को सामन्तवादी समाज; तथा बड़े–बड़े उद्योगों पर पूँजीपतियों के अधिकार वाले समाजों को पूँजीपति समाज कहा जाता है। मार्क्स ने एक ऐसे समाज के विकास की कल्पना भी की है जिसे 'वर्गरहित समाज' (Classless society) कहा जाता है जिसमें निजी सम्पत्ति का कोई स्थान नहीं होगा, सम्पत्ति पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होगा तथा किसी भी प्रकार की ऊँच–नीच नहीं पाई जाएगी। परन्तु इनके वर्गरहित समाज के विकास की धारणा दार्शनिक एवं काल्पनिक मानी जाती है।

मार्क्स के समाजों के वर्गीकरण में भारत का स्थान–कार्ल मार्क्स ने समाजों का जो वर्गीकरण किया है, उसमें उन्होंने भारत को एशियाई समाजों की श्रेणी में रखा है। इस श्रेणी के समाजों की चार प्रमुख विशेषताएँ हैं–

(i) कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था,

(ii) केन्द्रीय राज्य तथा नौकरशाही,

(iii) राज्य का प्रमुख कार्य सिंचाई का प्रबन्ध करना, तथा

(iv) पूर्णतः ग्रामीण अर्थव्यवस्था।

मार्क्स ने एशियाई समाज की परिभाषा करते हुए कहा है कि यह एक ऐसा समाज है जिसकी कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था उत्पादन की छोटी–छोटी इकाइयों पर आधारित है तथा साथ ही केन्द्रीय राज्य और नौकरशाही पाई जाती है जिसकी शक्ति जलपूर्ति नियमन पर निर्भर करती है। परन्तु टी0 बी0 बॉटोमोर मार्क्स के इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि पूर्व–ब्रिटिश भारत को केन्द्रित नौकरशाही व उत्पादन के ग्रामीण संगठनयुक्त सिंचाई सभ्यता कह देना पर्याप्त नहीं है। भारतीय समाज की एकता तथा स्थायित्व दो अन्य कारकों, जाति तथा धर्म, पर भी निर्भर था। इस प्रकार भिन्न–भिन्न ग्रामीण समुदायों का एक विस्तृत सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में एकीकरण करने तथा बनाए रखने का कार्य मात्र जल व्यवस्था को नियन्त्रित करने वाली केन्द्रीय नौकरशाही ने ही नहीं किया अपितु इसमें पुजारियों द्वारा मूल्यों की एक धार्मिक व्याख्या व अर्थ–प्रतिपादन ने भी महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है।

टी0 बी0 बॉटोमोर ने विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा समाजों के वर्गीकरण की समीक्षा करके निष्कर्ष निकाला है कि यद्यपि वर्गीकरण के क्षेत्र में अधिक लाभकारी कार्य किया गया है, तथापि अधिकतर वर्गीकरण ज्यादा सन्तोषजनक नहीं हैं तथा समाजों के वर्गीकरण की कोई

सामान्य एवं स्वीकृत रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की जा सकती है। बॉटोमोर ने इस दिशा में नवीन प्रयासों की आवश्यकता पर बल दिया है।

बॉटोमोर के विचार में अधिकांश प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों (जैसे कॉम्ट, स्पेन्सर, हॉबहाउस आदि) द्वारा प्रस्तावित समाजों का वर्गीकरण उद्विकासीय सिद्धान्तों पर आधारित है। वर्गीकरण को उद्विकासवादी विचारधारा के प्रभाव से पृथक् करना वैज्ञानिक वर्गीकरण के लिए अनिवार्य है। साथ ही, उनका यह भी कहना है कि हमें समाज के विभिन्न प्रकारों के शुद्ध उदाहरणों को पाने की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए अपितु मैक्स वेबर के अर्थों में उन्हें आदर्श–प्रकार (Ideal types) मानना ज्यादा अच्छा होगा।

बॉटोमोर के अनुसार समाजों को वगीकृत करने के विभिन्न प्रयासों में यद्यपि विविध लक्षणों के आधार पर एक प्रकार के समाज को दूसरे से भिन्न करने का प्रयास किया गया है, परन्तु वास्तविक वर्गीकरण में इतनी अधिक भिन्नता नहीं है। सभी विद्वान् सामाजिक संरचना के प्रकारों को निश्चित करने हेतु आर्थिक संरचना को एक तत्त्व के रूप में महत्त्व देते हैं। आज यह दुविधापूर्ण प्रतीत होता है कि क्या वास्तव में किसी की एक ही कसौटी के आधार पर कोई महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण विकसित हो सकता है? उनका कहना है कि वर्तमान औद्योगिक समाजों, आर्थिक उन्नति की प्रक्रियाओं, आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं की सापेक्षिक स्वायत्तता को देखते हुए समाजों का उनकी आर्थिक संरचना के आधार पर वर्गीकरण करना तथा फिर राजनीतिक प्रणालियों के आधार पर एक उपवर्गीकरण करना अधिक उचित होगा।

टी0 बी0 बॉटोमोर ने समाजों के वर्गीकरण की एक विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की है, जिसमें उन्होंने निम्नलिखित तीन आधारों को प्रधानता दी है–

(1) संस्थाओं की व्यवस्था (System of institutions),

(2) सामाजिक समूहों की संख्या व उनके स्वरूप (The number and character of social groups), तथा

(3) महत्त्वपूर्ण सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप (Nature of the predominant social relations)।

अगर समाज का वर्गीकरण समाज में पाई जाने वाली संस्थाओं की व्यवस्था के अनुसार करना है तो आर्थिक संस्थाएँ समाज की प्रमुख संस्थाएँ मानी जाती हैं जिनके आधार पर समाजों को (i) एशियाई समाज तथा (ii) पश्चिमी समाज में विभाजित किया जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्थाओं के आधार पर इनका उपवर्गीकरण किया जा सकता है। समाज में पाए जाने वाले सामाजिक समूहों की संख्या तथा उनके स्वरूप के आधार पर समाजों को (i) सरल समाज (अथवा आदिम समाज), तथा (ii) जटिल समाज (अथवा सभ्य समाज) में विभाजित किया जा सकता है। सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर समाजों का वर्गीकरण (i) वैयक्तिक एवं प्रत्यक्ष सामाजिक सम्बन्धों की प्रधानता वाले समाजों तथा (ii) अवैयक्तिक एवं अप्रत्यक्ष सम्बन्धों की प्रधानता वाले समाजों में किया जा सकता है।

आज समाजों का एक अन्य वर्गीकरण काफी लोकप्रिय हो गया है। यह वर्गीकरण एन्थोनी गिडिन्स (Anthony Giddens) का है जिन्होंने उद्विकासीय आधार पर समाजों को निम्नलिखित सात श्रेणियों में विभाजित किया है–

(1) शिकारी एवं भोजन संग्रह समाज–यह सबसे प्राचीन समाज है जिसमें विभिन्न प्रकार के जानवरों एवं मछलियों का शिकार तथा जंगलों से प्राप्त कंद–मूल एवं फल जीविकोपार्जन

का मुख्य साधन होते हैं। इसमें मानव पशुओं की भाँति झुण्डों में निवास करते हैं तथा उनमें किसी भी प्रकार का संस्तरण नहीं पाया जाता है। केवल लिंग एवं आयु के आधार पर विभेदीकरण विद्यमान होता है। आधुनिक युग में इस प्रकार के समाजों की संख्या नगण्य है।

(2) कृषक समाज–इस प्रकार के समाज का प्रारम्भ खेती और बागवानी से हुआ। इसमें मनुष्य छोटे–छोटे समूहों में निवास करते थे तथा उनके जीविकोपार्जन का मुख्य साधन कृषि था। कुछ लोग शिकारी जीवन भी व्यतीत करते थे। नगरों का विकास नहीं हुआ था। सामाजिक संस्तरण अपने प्रारम्भिक रूप में विकसित होना शुरू होने लगा था। इस प्रकार के समाज आधुनिक युग में भी विद्यमान हैं।

(3) चरागाही समाज–यह समाज कृषक समाज से मिलता–जुलता है। इसमें जीवन–निर्वाह हेतु मवेशियों का कई रूपों में प्रयोग होता है। मनुष्य झुण्डों में रहते हैं जिनकी आबादी हजारों तक भी हो सकती है। संस्तरण विकसित रूप में पाया जाता है। ऐसे समाजों में अनेक झुण्ड घुमक्कड़ी जीवन व्यतीत करते हैं। यह समाज भी आधुनिक युग में विद्यमान है।

(4) परम्परागत राज्य या सभ्यता–इस प्रकार के समाज ईसा पूर्व छह हजार वर्ष से लेकर 49वीं शताब्दी तक विद्यमान रहे हैं। जीवन–निर्वाह का मुख्य आधार कृषि था, परन्तु व्यापार और उद्योग का भी विकास हो चुका था। बड़े–बड़े नगर, राजाओं एवं महाराजाओं के हाथों में शासन, वर्गों के आधार पर विभाजन, जीवन में धर्म एवं विभिन्न प्रकार के अन्धविश्वासों का प्रचलन ऐसे समाजों की प्रमुख विशेषताएँ मानी जाती हैं। भारत को भी उन्होंने इसी श्रेणी में सम्मिलित किया है। अन्तर केवल इतना है कि वर्ग–विभाजन के स्थान पर भारत में जाति के आधार पर संस्तरण का महत्त्व अधिक है।

(5) पहली दुनिया के समाज–ऐसे समाजों का विकास 48वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप एवं अमेरिका में हुआ। अधिकांश जनसंख्या नगरों में निवास करती है तथा जनसंख्या का केवल कुछ भाग ही कृषि कार्यों में संलग्न होता है। इनमें वर्ग–विभाजन तो पाया जाता है, परन्तु वर्गों में अत्यधिक सामाजिक दूरी नहीं होती है। आधुनिक तकनीकी एवं विकसित उद्योगों के कारण लोगों का भौतिक जीवन काफी ऊँचा होता है। कनाडा, अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, जापान एवं अन्य विकसित देश ऐसे समाजों के प्रमुख उदाहरण हैं।

(6) दूसरी दुनिया के समाज–20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में विकसित उन समाजों को इस श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है जो 4947 की रूसी क्रांति की देन हैं। इस श्रेणी में उन्होंने साम्यवादी देशों को सम्मिलित किया है, परन्तु चीन साम्यवादी देश होते हुए भी इस समाज का उदाहरण नहीं माना जाता है। चीन अभी उतना विकसित नहीं हो पाया है। ऐसे समाजों में जीविकोपार्जन का मुख्य साधन कृषि और उद्योग दोनों होते हैं तथा अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण राज्य के हाथों में होता है।

(7) तीसरी दुनिया के समाज–48वीं शताब्दी से लेकर वर्तमान काल तक वे समाज इस श्रेणी में सम्मिलित किए जाते हैं, जिनमें जीविकोपार्जन का मुख्य साधन कृषि होता है, परन्तु साथ ही महानगर एवं बड़े–बड़े उद्योग भी पाए जाते हैं। इनमें विकास का स्तर निम्न होता है। लोगों का जीवन स्तर निर्धनता के कारण निम्न माना जाता है। सामाजिक असमानताएँ अधिक पायी जाती हैं, अर्थ–व्यवस्था मिश्रित प्रकृति की होती है तथा अधिकांश देश उपनिवेशवाद के शोषण का शिकार रहे हैं। जापान को छोड़कर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के सभी देश इस श्रेणी में आते हैं। चीन, भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल आदि सैकड़ों देश इस श्रेणी के समाजों के उदाहरण हैं।

4.7 सारांश

समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है; इसलिए समाज इस विषय की केन्द्रीय संकल्पना है। समाज का प्रचलित अर्थ समाज के समाजशास्त्रीय अर्थ से भिन्न है। समाजशास्त्र में समाज को सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था, ताना–बाना अथवा जाल कहा जाता है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं, अतः समाज को भी अमूर्त माना गया है अर्थात् इसका कोई निश्चित रूप नहीं है। **मैकाइवर** एवं **पेज** ने समाज को इसी रूप में परिभाषित किया है। उनके मतानुसार समाज सामाजिक सम्बन्धों की निरन्तर परिवर्तित होने वाली व्यवस्था कहा है। समाज की प्रमुख विशेषताओं में सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था, अमूर्त प्रकृति, सहयोग एवं संघर्ष, समानता एवं असमानता, पारस्परिक, निर्भरता अर्थात् अन्योन्याश्रितता, पारस्परिक जागरूकता, समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं, तथा निरन्तर परिवर्तनशीलता प्रमुख हैं। 'समाज' तथा 'एक समाज' दो भिन्न संकल्पनाएँ हैं। 'समाज' अमूर्त होता है, जबकि 'एक समाज' मूर्त होता है। 'एक समाज' निश्चित सीमाओं से बँधा समाज होता है। इसे हम व्यक्तियों के मूर्त समूहों के रूप में देखते हैं। भारतीय समाज 'एक समाज' का उदाहरण है क्योंकि इसकी निश्चित सीमाएँ हैं तथा यह व्यक्तियों का एक मूर्त समूह है। समाज का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया गया है। प्रारम्भिक विद्वानों ने इसका द्वैत वर्गीकरण प्रस्तुत किया जिसमें समाज को सरल एवं जटिल नामक दो श्रेणियों में विभाजित किया। बॉटोमोर ने समाजों के वर्गीकरण की एक विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की है। आधुनिक समाजशास्त्रियों में एन्थोनी गिडिन्स का वर्गीकरण काफी लोकप्रिय माना जाता है।

4.8 शब्दावली

समाज – व्यक्तियों में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों के जाल अथवा ताने–बाने को समाज कहते हैं। यह अमूर्त होता है।

सामाजिक सम्बन्ध – दो या अधिक व्यक्तियों में पारस्परिक जागरूकता एवं आदान–प्रदान पर आधारित सम्बन्धों को सामाजिक सम्बन्ध कहा जाता है।

एक समाज – निश्चित भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियों के ऐसे समूह को एक समाज कहा जाता है जो कुछ सामान्य कार्यों में सचेत रूप से भाग लेते हैं।

संस्कृति – व्यक्तियों के सीखे हुए व्यवहार को संस्कृति कहा जाता है। यह समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है।

सहयोग – दो या अधिक व्यक्तियों द्वारा सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति हेतु किए जाने वाले संयुक्त प्रयास को सहयोग कहते हैं।

संघर्ष – संघर्ष वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु विरोधियों के हितों को नुकसान पहुँचाने का प्रयास करते हैं अथवा नुकसान पहुँचाते हैं।

4.9 अभ्यास प्रश्न

1. समाज की परिभाषा दीजिए तथा इसके प्रमुख आधारभूत तत्त्व बताइए।
2. समाज किसे कहते हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
3. समाज का सामान्य अर्थ समाजशास्त्रीय अर्थ से किस प्रकार भिन्न है?

4. समाज किसे कहते हैं? समाज एवं एक समाज में क्या अन्तर है?
5. मैकाइवर एवं पेज द्वारा प्रतिपादित समाज की परिभाषा की व्याख्या कीजिए।
6. समाजों के प्रमुख प्रकार कौन–से हैं? संक्षेप में समझाइए।
7. समाज के किसी एक वर्गीकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। बॉटोमोर ने समाजों के वर्गीकरण हेतु कौन–सी रूपरेखा प्रस्तुत की है?
8. समाज का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा एन्थोनी गिडिन्स द्वारा बताए गए समाजों के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

4.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

Alex Inkeles (4964), **What is Sociology ?**, Prentice-Hall, Englewood Cliffs, N.J.

Anthony Giddens (4998), **Sociology**, Polity Press, Cambridge.

E. B. Reuter (4948), **A Handbook of Sociology**, Dryden Press, New York.

Edwin Robert Anderson Seligman (4934), **Encyclopaedia of the Social Sciences**, Vol. XIV, The Macmillan Company, New York.

Emile Durkheim (4984), **The Division of Labour in Society**, The Free Press, New York.

Ernst Fischer (4973), **Marx in His Own Words**, *Penguin Books*, Harmondsworth.

F. H. Giddings (2004), **Principles of Sociology**, The Macmillan Company, New York.

F. J. Wright (4942), **Elements of Sociology**, University of London Press, London.

F. Tonnies (4988), **Community and Society**, Michigan State University Press, Michigan.

G. D. Mitchell (4979), **A New Dictionary of Sociology**, Routledge and Kegan Paul, London.

H. M. Johnson (4960), ***Sociology* : A Systematic Introduction**, Routledge and Kegan Paul, London.

Herbert Spencer (4898), **The Principles of Sociology**, D. Appleton and Company, New York.

Karl Marx (4964), **Selected Writings in Sociology and Social Philosophy** (translated by T. B. Bottomore), McGraw-Hill Book Company, New York.

Kingsley Davis (4949), **Human Society**, The Macmillan Company, New York.

Kurt H. Wolff (2044), **The Sociology of Georg Simmel**, The Free Press, Glencoe, Illinois.

R. M. MacIver and C. H. Page (4962), **Society : An Introductory Analysis**, Holt, Rinehart and Winston, New York.

R. T. LaPiere (4946), **Sociology**, *McGraw-Hill* Book Company, New York.

T. B. Bottomore (4974), **Sociology : A Guide to Problems and Literature**, Prentice-Hall, Inc., N.J.

T. Parsons (4954), **The Social System**, The Free Press, Glencoe, Illinois.

इकाई 5 सामाजिक संरचना : भूमिका, प्रस्थिति, आदर्श एवं मूल्य
Social Structure: Role, Status, Norms & Value

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 सामाजिक संरचना

5.2.1. सामाजिक संरचना की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

5.2.2 सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषताएँ
5.2.3 सामाजिक संरचना के प्रमुख तत्त्व
5.3 सामाजिक भूमिका
5.3.1 भूमिका की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
5.3.2 भूमिका के प्रमुख तत्त्व
5.3.3 भूमिका की प्रमुख विशेषताएँ
5.4 सामाजिक प्रस्थिति
5.4.1 प्रस्थिति की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
5.4.2 प्रस्थिति से सम्बन्धित अन्य अवधारणाएँ
5.4.3 प्रस्थिति की प्रमुख विशेषताएँ
5.4.4 प्रस्थितियों के प्रकार
5.4.5 प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्त्व
5.5 सामाजिक आदर्श
5.5.1 आदर्श की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
5.5.2 आदर्शों की प्रमुख विशेषताएँ
5.5.3 आदर्शों का वर्गीकरण
5.5.4 आदर्शों का आधार एवं विकास
5.5.5 आदर्शों का महत्त्व
5.6 सामाजिक मूल्य
5.6.1 मूल्यों की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
5.6.2 मूल्यों की प्रमुख विशेषताएँ
5.6.3 मूल्यों के प्रकार
5.6.4 मूल्यों का महत्त्व
5.6.5 मुकर्जी के अनुसार मूल्यों का वर्गीकरण
5.6.6 मुकर्जी के अनुसार मूल्यों में संस्तरण
5.7 सारांश
5.8 शब्दावली
5.9 अभ्यास प्रश्न
5.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक संरचना की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसकी प्रकृति एवं प्रमुख तत्त्वों को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- सामाजिक संरचना की अवधारणा, इसकी विशेषताओं एवं तत्त्वों को समझ पाएँगे;
- सामाजिक भूमिका की अवधारणा, इसके तत्त्वों एवं विशेषताओं की व्याख्या कर पाएँगे;

- सामाजिक प्रस्थिति की अवधारणा, इसकी विशेषताओं, प्रकारों एवं महत्त्व को स्पष्टतया समझ पाएँगे;
- सामाजिक आदर्शों की अवधारणा, विशेषताओं, वर्गीकरण, आधारों एवं विकास तथा महत्त्व की चर्चा कर पाएँगे; तथा
- सामाजिक मूल्यों की अवधारणा, विशेषताओं, प्रकारों, महत्त्व तथा मुकर्जी के विचारों का ज्ञान प्राप्त कर पाएँगे।

5.1 प्रस्तावना

मानव जीवन की एक विशेषता है कि उसमें व्यक्तियों के परस्पर सम्पर्क कम या अधिक अंश में 'संरचित' हैं। हमारे जीवन की दैनिक एवं क्रमिक घटनाएँ मानवीय समाज की संरचना का बोध कराती हैं। उदाहरणार्थ, समाजशास्त्रीय दृष्टि से निरुद्देश्य अथवा अनुपम घटनाएँ मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण पहलू नहीं हैं अपितु प्रतिमानित व्यवहार का विशेष महत्त्व है। मानव अनेक प्रतिमानित कार्य करता है जिनकी व्याख्या की जा सकती है तथा जिनके बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है कि वह अमुक परिस्थिति में अमुक कार्य करेगा। समाजशास्त्री का कार्य इन्हीं प्रतिमानित व्यवहारों का अध्ययन करना है जिससे कि उनकी 'सामाजिक संरचना' का पता चल सके तथा अमूर्त समाज में रहने वाले व्यक्तियों का जीवन–पद्धति का अनुमान हो सके। सामाजिक संरचना शब्द इस तथ्य को दर्शाता है कि समाज संरचनात्मक है अर्थात् अपने विशिष्ट रूप में वह क्रमवार तथा नियमित है। सामाजिक संरचना की अवधारणा लोगों के आचरण, एक–दूसरे से सम्बन्ध में अन्तर्निहित नियमितताओं को व्यक्त करती है। अन्य अवधारणाओं की भाँति, 'सामाजिक संरचना' की अवधारणा का प्रयोग समाजशास्त्र में विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। इसके तत्त्वों में भूमिका, प्रस्थिति, आदर्शों एवं मूल्यों को सम्मिलित किया जाता है। अतः सामाजिक संरचना की अवधारणा के स्पष्टीकरण हेतु इन सबका ज्ञान होना अनिवार्य है।

5.2 सामाजिक संरचना

'संरचना' शब्द से हमें किसी वस्तु में प्रयुक्त इकाइयों के बीच व्यवस्थित क्रम का आभास होता है; जैसे कि भवन, इमारत इत्यादि अथवा इससे किसी ठोस एवं स्थायी वस्तु का बोध होता है जिसे मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों से पहचान सकता है। सामान्यतः 'संरचना' शब्द का प्रयोग हम पहले अर्थ अर्थात् किसी भी वस्तु के निश्चित क्रम के लिए करते हैं। उदाहरण के लिए, एक भवन की संरचना के बारे में जब हम बात करते हैं तो इससे भवन निर्माण में प्रयुक्त विभिन्न वस्तुओं के क्रम का ज्ञान होता है अर्थात् केवल ईंट, पत्थर, रेत, सीमेण्ट, लकड़ी आदि के अलग–अलग ढेरों को हम भवन की संज्ञा नहीं देते अपितु जब इन्हें एक निश्चित क्रम में निर्धारित विधि द्वारा लगाया जाता है तभी इनसे भवन का निर्माण होता है। इन विभिन्न घटकों को आपस में जोड़कर एक नवीन रूप सामने प्रस्तुत होता है। यह नया रूप ही उस भवन की संरचना कहा जाएगा। **मिशेल** (Mitchell) के शब्दों में, "किसी भी तत्त्व (Entity) की संरचना उसके भागों का औपचारिक क्रम है।" **जॉनसन** (Johnson) के अनुसार, "किसी वस्तु की संरचना से हमारा तात्पर्य उसके भागों में सापेक्षिक रूप से पाए जाने वाले स्थायी अन्तर्सम्बन्धों से होता है।"

5.2.1 सामाजिक संरचना की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

यद्यपि 'सामाजिक संरचना' को समाजशास्त्र में केन्द्रीय अवधारणा माना गया है, तो भी इसके अर्थ एवं लक्षणों को लेकर आज भी मतभेद पाए जाते हैं। सबसे पहले इस अवधारणा का प्रयोग करने वाले समाजशास्त्री **हरबर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer) थे। परन्तु उन्होंने मानव समाज और मानव प्राणी की तुलना और सादृश्य पर इतना अधिक जोर दिया कि वे मानव समाज को एक वृहद् प्राणी के रूप में देखने लगे और अपने सभी विश्लेषणों को इसी मान्यता पर आधारित करने लगे। **दुर्खीम** (Durkheim), जिन्होंने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया तथा काफी सीमा तक इसमें सफल भी रहे, ने भी सामाजिक संरचना की अवधारणा की स्पष्ट व्याख्या नहीं की। बाद में, समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने इसे एक स्पष्ट अर्थ देने का प्रयास किया, परन्तु उनमें आज भी मतैक्य नहीं है।

समाजशास्त्र में 'सामाजिक संरचना' शब्द का प्रयोग सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक घटनाओं अथवा सामाजिक प्रक्रियाओं के निश्चित क्रम के लिए किया जाता है। 'सामाजिक संरचना' शब्द का प्रयोग अन्य मिलते–जुलते शब्दों; जैसे 'सामाजिक संगठन', 'सामाजिक व्यवस्था', 'प्रतिमान' अथवा 'सम्पूर्ण समाज' के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया जाता है, इसलिए इसका कोई एक निश्चित अर्थ देना एक कठिन कार्य हो जाता है। फिर भी, अधिकांश समाजशास्त्री 'सामाजिक संरचना' शब्द का प्रयोग व्यवस्थित (Orderly) अथवा प्रतिमानित (Patterned) ढंगों के लिए करते हैं जिनसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह परस्पर एक–दूसरे से अपने आपको सम्बन्धित करते हैं। इन सम्बन्धों को संरचित अथवा संगठित कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं होता कि इन्हें अग्रिम रूप में ही नियोजित कर लिया गया था, अपितु सामाजिक संरचना का प्रथम आधार व्यक्तियों की अन्तर्क्रियाओं में दैनिक अनुकूलन तथा परिवर्तन का परिणाम है क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों को समाज में रहने वाले व्यक्ति की क्रियाओं द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है।

सामाजिक संरचना में व्यवस्थित प्रतिमान और स्थायित्व दो लक्षण दिखाई देते हैं। सामाजिक संरचना स्थिर इसलिए है क्योंकि व्यक्तियों के आने–जाने का समूह की संरचना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए, किसी गाँव, नगर अथवा स्कूल या कॉलेज में व्यक्ति अथवा छात्रों के आने–जाने से इनकी सामाजिक संरचना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वास्तव में गाँव, नगर, स्कूल अथवा कॉलेज एक संगठित समूह इसी अर्थ में हैं कि इनकी निश्चित संरचना बनी रहती है। पुराने छात्रों में से कुछ छात्र प्रतिवर्ष कॉलेज छोड़ जाते हैं और नए छात्र प्रवेश करते हैं। इसी प्रकार कुछ शिक्षक भी एक कॉलेज से दूसरे कॉलेज में जा सकते हैं, परन्तु शिक्षक और शिष्य का सम्बन्ध प्रतिमान या छात्र–छात्र सम्बन्ध प्रतिमान, कक्षा में पढ़ाने की विधि और कॉलेज की अन्य गतिविधियाँ वैसी ही बनी रहती हैं। इस प्रकार किसी सम्पूर्ण समाज की विभिन्न इकाइयों को आपस में जोड़ने वाली प्रबन्धशैली को ही सामाजिक संरचना कहा जाता है जो अपेक्षाकृत स्थायी होती है।

सामाजिक संरचना हमारे दैनिक जीवन की क्रियाओं को निर्धारित करती है। अतः इसके सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों ही रूप हो सकते हैं। एक ओर, सामाजिक संरचना व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधक हैं क्योंकि व्यक्ति को इसके अनुरूप कार्य करना पड़ता है तथा दूसरी ओर, सामाजिक संरचना में पाया जाने वाला स्थायित्व ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का स्रोत है। सामाजिक संरचना के आधार पर ही हम मानव व्यवहार के बारे में पूर्वानुमान लगा सकते हैं।

सामाजिक संरचना के अर्थ को परिवार और विद्यालय के उदाहरण से समझा जा सकता है। प्रत्येक परिवार की अपनी एक संरचना होती है जिसमें प्रत्येक सदस्य का एक निश्चित स्थान (प्रस्थिति) एवं भूमिका होती है। वह अपनी निर्धारित प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका का निर्वाह करते हुए परिवार को बनाए रखने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप पुरुषों एवं महिलाओं की प्रस्थिति एवं क्रम निर्धारित होता है। विवाहोपरान्त सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप लड़की लड़के के परिवार में चली जाती है, जबकि लड़के के विवाह के समय दूसरे परिवार की लड़की लड़के के परिवार की सदस्य बन जाती है। इसके साथ ही, परिवार में वृद्ध सदस्यों की मृत्यु एवं नए सदस्यों का प्रवेश निरन्तर होता रहता है। इसीलिए परिवार निरन्तर अपना अस्तित्व बनाए रखता है। ऐसा नहीं है कि परिवार में परिवर्तन नहीं होता, अपितु परिवर्तन के बावजूद परिवार की संरचना में निरन्तरता पाई जाती है।

परिवार की भाँति विद्यालय की भी एक निश्चित संरचना होती है। विद्यालय का प्रबन्धतन्त्र प्राचार्य/प्राचार्या, शिक्षकगण, गैर–शिक्षक कर्मचारी तथा छात्र–छात्राएँ इस संरचना के महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। वे सभी अपनी निर्धारित भूमिका निभाते हुए विद्यालय की संरचना को बनाए रखते हैं। विद्यालय में कुछ विशिष्ट प्रकार के क्रियाकलाप वर्षों से दोहराए जाते हैं जो आगे जाकर संस्थाएँ बन जाते हैं; उदाहरणार्थ, विद्यालय में दाखिले के तरीके, प्रातःकालीन सभा और कहीं–कहीं विद्यालयी गीत, आचरण सम्बन्धी नियम, वार्षिकोत्सव इत्यादि। विद्यालय में पुराने विद्यार्थियों का चले जाना तथा उनके स्थान पर नए विद्यार्थियों का प्रवेश निरन्तर होता रहता है। इसी भाँति, शिक्षक निर्धारित आयु पर सेवानिवृत्त होते हैं तथा उनका स्थान नए शिक्षक ले लेते हैं। इस भाँति वह संस्था निरन्तर चलती रहती है।

विद्यालय की संरचना बनाए रखने में छात्रों, शिक्षकों तथा कर्मचारियों को कुछ विशेष प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं जिन्हें उनकी भूमिका कहा जाता है। प्रत्येक को अपनी भूमिका निर्वहन उचित ढंग से करना पड़ता है। छात्रों से आशा की जाती है कि वे विद्यालय में अनुशासन बनाए रखें, अपनी कक्षाओं में मन लगाकर पढ़ें, खाली घण्टे में खेलकूद एवं अन्य गतिविधियों में भाग लें तथा अपनी समस्याओं के समाधान में शिक्षकों का सहयोग लें। शिक्षकों से आशा की जाती है कि वे छात्रों को उचित शिक्षा एवं ज्ञान दें ताकि उनका सर्वांगीण विकास हो सके। उनसे यह भी आशा की जाती है कि वे विद्यालय में ऐसा व्यवहार करें जो छात्रों के लिए अनुकरणीय हो क्योंकि अधिकांश छात्र अपने शिक्षकों को ही अपना आदर्श मानते हैं। कई बार शिक्षकों की कही गई बातों का छात्रों पर प्रभाव उनके माता–पिता द्वारा कही गई बातों से भी अधिक पड़ता है। विद्यालय के अन्य कर्मचारियों से भी अपनी प्रस्थिति के अनुकूल भूमिका निष्पादन की आशा की जाती है। यदि कोई व्यक्ति लिपिक है तो वह उस निर्धारित कार्य को समय पर पूरा करे जो उसे दिया गया है। इसी भाँति, यदि कोई चपरासी है तो उसका उत्तरदायित्व है कि वह कक्षाओं को साफ–सुथरा रखे, समय पर घण्टा लगाए तथा अन्य जो कार्य उसे सौंपा जाता है उसका ठीक प्रकार से निर्वहन करे।

सामाजिक संरचना की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

जिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों के प्रकारों, समितियों, सदस्यों, संस्थाओं तथा इनकी जटिलता, जिनसे समाज का निर्माण होता है, के रूप में किया जा सकता है। सामाजिक संरचना का

सम्पूर्ण विवरण हमें तुलनात्मक संस्थाओं के सम्पूर्ण क्षेत्र की समीक्षा द्वारा प्राप्त हो सकता है।" **मैनहिम** (Mannheim) के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर अन्तर्क्रिया करने वाली उन सामाजिक शक्तियों के ताने–बाने को कहते हैं जिनके परिणामस्वरूप अवलोकन करने तथा सोचने–विचारने के तरीके विकसित होते हैं।"

स्मेलसर (Smelser) के अनुसार, "सामाजिक संरचना को भूमिकाओं के उन परिचित प्रतिमानों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि मुख्य रूप से सामाजिक कार्य अथवा क्रिया की पूर्ति के लिए संगठित हैं।" **रैडक्लिफ–ब्राउन** (Radcliffe-Brown) के अनुसार, "सामाजिक संरचना को सुविधाजनक रूप से परिभाषित करने के लिए कहा जा सकता है कि सामाजिक संरचना व्यक्तियों के बीच वह क्रम है जो उनके निश्चित सम्बन्धों अथवा संस्थागत रूप से नियन्त्रित सम्बन्धों में प्रकट होता है।"

मैकाइवर एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार, "समूह निर्माण के विभिन्न तरीके संयुक्त रूप में सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमानों का निर्माण करते हैं।....सामाजिक संरचना के विश्लेषण में सामाजिक जीवों की विभिन्न प्रवृत्तियाँ और हित व्यक्त होते हैं।" उनका कहना है कि यदि हम वायुयान में बैठकर किसी नगर अथवा ग्राम या सामाजिक जीवन के अन्य किसी क्षेत्र पर दृष्टिपात करें तो हम भवन, सड़क, पुल आदि स्तर के (संरचनात्मक) कार्यों के अन्य प्रमाण देखते हैं। लोगों को हम देख सकते हैं। परन्तु हम सामाजिक संरचना को नहीं देखते और देख भी नहीं सकते हैं। समाज सामाजिक सम्बन्धों का संगठन है जो मानव द्वारा निर्मित, प्रेरित तथा सदैव परिवर्तित किया जा रहा है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से सामाजिक संरचना का विशिष्ट अर्थ स्पष्ट होता है और इसकी महत्ता का भी पता चलता है। सामाजिक संरचना का निर्माण अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्तियों में विकसित सामाजिक सम्बन्धों द्वारा होता है। इन विद्वानों तथा अनेक अन्य विद्वानों ने सामाजिक संरचना को व्यक्तियों अथवा सामाजिक समूहों में पाए जाने वाले स्थायी सम्बन्धों अथवा संस्थागत प्रबन्धों के रूप में देखने का प्रयास किया है। परन्तु **रेमण्ड फिर्थ** (Raymond Firth) ने इन संस्थागत प्रबन्धों के लिए सामाजिक संरचना की अपेक्षा 'सामाजिक संगठन' की अवधारणा को अधिक महत्त्व दिया है। फिर भी, अधिकांश विद्वान् इसे आज सामाजिक सम्बन्धों के व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप में देखते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संरचना से अभिप्राय किसी समूह या समाज में परस्पर सम्बन्धित प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के ऐसे प्रतिमान से है जो अपेक्षाकृत स्थायी होता है और नियमित सम्बन्धों को जन्म देता है।

5.2.2 सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषताएँ

सामाजिक संरचना की अवधारणा में निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ होती हैं–

(1) स्थायित्व एवं निरन्तरता–सामाजिक संरचना समाज के उस पक्ष को प्रकट करती है जो अपेक्षाकृत स्थायी और निरन्तरता वाला होता है। यह वह पक्ष है जो सामाजिक क्रिया के लिए आधार प्रदान करता है।

(5) अमूर्त अवधारणा–सामाजिक संरचना एक अमूर्त अवधारणा है क्योंकि यह तो विभिन्न समूहों के बीच सम्बन्धों का उभरा हुआ रूप है जिसको किसी कैमरे से फोटो द्वारा नहीं दिखाया जा सकता है।

(3) अनेक स्तर–सामाजिक संरचना का कई स्तरों पर अध्ययन किया जा सकता है; जैसे–व्यक्तिगत स्तर, समूह स्तर एवं सामुदायिक या समाज स्तर। व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्ति को केन्द्र मानकर उसके विभिन्न सम्बन्धों के अध्ययन द्वारा सामाजिक संरचना को समझा जा

सकता है। इसी प्रकार क्रमशः समूह, समुदाय और समाज को भी अध्ययन की इकाई मानकर सामाजिक संरचना का विश्लेषण किया जा सकता है।

(4) आदर्शात्मक एवं वास्तविक प्रतिमान–सामाजिक संरचना में दोनों ही आयाम सन्निहित होते हैं–**एक**, समाज में पाए जाने वाले सम्बन्धों के आदर्श प्रतिमान और **दूसरे**, वास्तविक व्यवहार में प्रकट हो रहे व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध।

(5) गत्यात्मकता–सामाजिक संरचना एक गत्यात्मक तथ्य भी है। वास्तव में, कोई भी संरचना यदि अपने विस्तृत ढाँचे में स्थिर दिखाई देती है तो यह भी उतना ही सच है कि कालान्तर में उस संरचना में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। कभी–कभी तो इतना महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है कि किसी पुरानी संरचना का स्थान बिल्कुल ही नई संरचना ले लेती है।

(6) विभिन्न इकाइयों की संरचना–सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से सामाजिक संरचना के अन्तर्गत विभिन्न इकाइयों की संरचना का भी अध्ययन किया जा सकता है। जैसे कि मनुष्य के पूरे शरीर की संरचना एक सत्य है, परन्तु इसके अन्तर्गत विभिन्न अंगों की अपनी निजी संरचना होती है। ठीक इसी प्रकार समाज में परिवार की संरचना, स्कूल की संरचना, अस्पताल की संरचना का भी अध्ययन किया जा सकता है।

(7) व्यक्तियों के व्यवहार में मूर्त–सामाजिक संरचना का अन्तिम रूप से अध्ययन व्यक्ति के परस्पर व्यवहारों के अध्ययन में ही निहित होता है। व्यक्तियों के बीच अर्थपूर्ण पारस्परिक अन्तर्क्रियाएँ ही सम्बन्धों का निर्माण करती हैं, सम्बन्धों को बनाए रखती हैं और उनमें परिवर्तन लाती हैं। इसलिए सामाजिक संरचना व्यक्तियों के व्यवहार में ही मूर्त होती है।

(8) व्यवहार की नियामक–साथ ही, यह एक अटल सत्य है कि सामाजिक संरचना व्यक्ति के व्यवहार की नियामक है। अधिकांशतः व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सामाजिक संरचना के प्रमुख अंशों को अपने अन्तःकरण में बसाते जाते हैं। व्यक्ति को यह लगता अवश्य है कि जिस ढंग से वह व्यवहार कर रहा है वह उसके निज के विवेक से उपजा है और उसने यह रास्ता स्वतन्त्र रूप से चुना है, परन्तु सत्यता यह है कि हम समाज द्वारा बताए गए रास्ते पर चल रहे होते हैं और समाज के मूल्यों को ही अपने मूल्य समझ रहे होते हैं। **दुर्खीम** (Durkheim) तो सामाजिक संरचना के प्रभाव में इतना विश्वास रखते थे कि उन्होंने प्रत्येक सामाजिक तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए अन्य सामाजिक तथ्यों का सहारा लेने की सिफारिश की है। उनका समाजशास्त्रीयवाद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सामाजिक घटनाओं के कारण सामाजिक संरचना में ही खोजे जा सकते हैं।

(9) सामाजिक प्रघटना की व्याख्या के सन्दर्भ का स्पष्टीकरण–सामाजिक संरचना ही सामाजिक प्रघटना की परिभाषा करती है। किसी प्रघटना को सामाजिक प्रघटना की श्रेणी में शामिल करने के लिए उसे सामाजिक संरचना की कसौटी पर ही कसा जा सकता है। 'सामाजिक' शब्द की व्याख्या ही सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में हो सकती है।

(10) सामाजिक विचलन का स्पष्टीकरण–सामाजिक विचलन की अवधारणा भी सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में ही स्पष्ट हो सकती है क्योंकि सामाजिक संरचना ही उन सांस्कृतिक लक्षणों को बताती है जिनकी प्राप्ति की ओर व्यक्ति की क्रियाएँ उन्मुख होनी चाहिए। साथ ही, संरचना में निहित सामाजिक संस्थाएँ वे साधन होती हैं जिनके सहारे कोई व्यक्ति लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकता है। स्पष्ट है कि सामाजिक विचलन वह व्यवहार होगा जो इन सांस्कृतिक मूल्यों या समाज द्वारा निर्देशित साधनों के विरोध में होगा या इनसे अलग होगा। **मर्टन** (Merton) ने इसी दृष्टि को अपनाते हुए सामाजिक विचलन के प्रमुख स्वरूपों का वर्णन किया है।

मिशेल (Mitchell) के अति सुन्दर शब्दों में सामाजिक संरचना की अवधारणा बड़ी सजीव दिखाई देती है कि "'सामाजिक संरचना' वह शब्द है जो हमें निरन्तरता को समझने में सहायक है। तभी तो हम एक स्कूल, रेजीमेण्ट अथवा क्लब के बारे में कह सकते हैं कि इनमें से प्रत्येक निरन्तर तथा सार्थक अस्तित्व बनाए रखता है यद्यपि संरचनाओं पर आसीन व्यक्ति समय के दौरान बदलते रहते हैं।"

5.2.3 सामाजिक संरचना के प्रमुख तत्त्व

लाईट एवं **कैलर** (Light and Keller) सहित अनेक अन्य विद्वानों ने सामाजिक संरचना के निम्नांकित तीन प्रमुख तत्त्व बताए हैं–

(1) सामाजिक भूमिका–सामाजिक भूमिका किसी व्यक्ति से उसकी प्रस्थिति के अनुरूप आचरण की प्रत्याशा है। इसलिए कुछ विद्धानों ने कहा है कि प्रस्थिति का गत्यात्मक रूप भूमिका है। यह भूमिका व्यक्ति के कर्त्तव्यों और दायित्वों से सम्बन्धित है। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि एक प्रस्थिति के साथ एक–से अधिक भूमिकाएँ जुड़ी हो सकती हैं। जैसे एक शिक्षक का व्यवहार एक शिक्षक के रूप में ही अपने सहयोगी शिक्षकों, छात्रों, स्कूल के क्लर्कों व प्रिन्सिपल, कॉलेज के प्रबन्धकों व छात्रों के अभिभावकों से अलग–अलग होता है। इसलिए एक शिक्षक की प्रस्थिति कोई एक भूमिका नहीं वरन् भूमिका पुंज रखती है, जो उससे सम्बन्धित प्रत्याशित आचरणों का संग्रह है।

(5) सामाजिक प्रस्थिति–सामाजिक संरचना की सबसे छोटी इकाई सामाजिक प्रस्थिति को माना जाता है। सामाजिक प्रस्थिति किसी व्यक्ति की उस स्थिति को कहते हैं जो वह अपने समूह में रखता है। यह स्थिति उस व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों की तुलना में, जो उस समूह के सदस्य हैं, पदक्रम को प्रदर्शित करती है। वह उनमें से कुछ के अधीन स्थिति में होता है, कुछ से समान स्थिति में होता है और कुछ से श्रेष्ठ स्थिति में ही होता है। स्पष्ट है कि 'प्रस्थिति' शब्द में कुछ अधिकार, विशेषाधिकार, सत्ता व प्रभाव के तत्त्व भी सम्मिलित हो जाते हैं। सामाजिक प्रस्थिति समाज द्वारा प्रदत्त भी हो सकती है अथवा व्यक्ति उसे स्वयं भी अर्जित कर सकता है। वास्तव में, यही प्रस्थिति उस व्यक्ति की परिचायक बन जाती है।

(3) आदर्श एवं मूल्य–आदर्श एवं मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत आचरण के उत्तम ढंगों को कहते हैं। एक–दूसरे से व्यवहार करते समय व्यक्ति इन आदर्शों एवं मूल्यों का अनुसरण करते हैं। समूह में व्यक्ति एक–दूसरे से जो व्यवहार करते हैं, वह वास्तव में समाज के आदर्शों एवं मूल्यों द्वारा ही निर्देशित होते हैं। समाज के यह उत्तम व्यवहार प्रतिमान, महत्त्व व सामाजिक अभिमति की प्रकृति के आधार पर कई श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। दैनिक जीवन में अभिवादन अथवा अन्य दैनिक कार्यों से सम्बनिधत व्यवहार 'चलन' कहे जाते हैं जिनकी अवहेलना करने पर समाज नाक–भौंह तो सिकोड़ता है परन्तु दण्डात्मक प्रतिक्रिया नहीं करता। इसी महत्त्व में ऊँचे उठते हुए और सामाजिक बाध्यता की मात्रा में वृद्धि के आधार पर हम विभिन्न व्यवहार प्रतिमानों को प्रथा (Custom), रूढ़ियाँ (Mores), संस्थाएँ (Institutions) अथवा कानून (Law) कहते हैं। इसके अतिरिक्त शिष्टाचार, फैशन व नैतिकता भी सामाजिक आदर्शों के ही अंग हैं। इस भाँति, सामाजिक संरचना के तत्त्व समाज द्वारा निर्देशित व्यवहार के आदर्श तरीके एवं मूल्य हैं।

उपर्युक्त तत्त्वों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सामाजिक संरचना में सम्मिलित होने वाली इकाइयाँ इस प्रकार हैं–सामाजिक समूह, प्रस्थिति एवं भूमिका, आचरण के प्रतिमान एवं संस्थाएँ, सत्ता व निर्णय लेने की शक्ति का विभाजन एवं पुरस्कार व दण्ड की

व्यवस्था। साथ ही, हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सामाजिक संरचना लक्ष्यों की ओर उन्मुख होती है और वे लक्ष्य हैं–समाज के अस्तित्व की अनिवार्यताओं की पूर्ति करना।

5.3 सामाजिक भूमिका

एम जटिल समाज में विभिन्न व्यक्तियों के मध्य सामाजिक अन्तर्क्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं। सामाजिक अन्तर्क्रियाएँ वैयक्तिक नहीं होती वरन् पद के अनुरूप व प्रस्थिति से सम्बन्धित होती हैं। जिस प्रकार कोशिका–कोशिका मिलकर शरीर का ढाँचा निर्मित करती हैं, उसी प्रकार व्यक्ति–व्यक्ति के बीच अन्तर्सम्बन्धों के द्वारा सामाजिक संरचना का निर्माण होता है। यह संरचना ही मानवीय अन्तर्क्रियाओं को सुविधाजनक व सम्भव बनाती है। वस्तुतः ये पारस्परिक अन्तक्रियाएँ ही समाज, संस्कृति एवं व्यक्तित्व की मूलाधार है। सामाजिक संरचना के विश्लेषण की लघुतम इकाई सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका है। प्रत्येक समाज व्यक्ति को जो पद प्रदान करता है, उसे ही उसकी प्रस्थिति कहा जाता है। प्रस्थिति के अनुरूप उससे जिस कार्य की आशा की जाती है, उसे उसकी भूमिका कहते हैं। प्रत्येक सामाजिक पद कुछ अधिकारों और कर्त्तव्यों या दायित्वों की व्याख्या करता है। कॉलेज में प्राचार्य का पद उनके अधिकारों और दायित्वों की व्याख्या करता है। किसी सामाजिक पद का अधिकार–पक्ष सामाजिक प्रस्थिति को बताता है और दायित्व पक्ष उसकी सामाजिक भूमिका का परिचायक है।

5.3.1 भूमिका की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

भूमिका का तात्पर्य कार्य से होता है। इसका निर्धारण व्यक्ति के पद अथवा प्रस्थिति के अनुसार होता है। भूमिका को प्रस्थिति से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि बिना भूमिका के किसी प्रस्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। भूमिका, वास्तव में, प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। कुछ कतिपय मुख्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

इलियट एवं **मैरिल** (Elliott and Merrill) के अनुसार–"भूमिका वह कार्य है जिसे वह (व्यक्ति) प्रत्येक प्रस्थिति के अनुरूप निभाता है।" **सार्जेन्ट** (Sargent) के अनुसार–"किसी भी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का एक ऐसा प्रतिमान या प्रकार है जो विशेष परिस्थिति के अनुसार उसे समूह के अन्य लोगों की माँगों व प्रत्याशाओं के अनुरूप प्रतीत होता है।" **डेविस** (Davis) के अनुसार–"भूमिका किसी भी व्यक्ति के द्वारा अपनी प्रस्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार सम्पन्न किया जाने वाला कार्य है।" **यंग** (Young) के अनुसार–"व्यक्ति जो करता है, इसी को हम उसकी भूमिका कहते हैं।" **लुण्डवर्ग** (Lundberg) के अनुसार–"एक सामाजिक भूमिका व्यक्ति का किसी समूह या परिस्थिति में वह व्यवहार का प्रतिमान है जिसकी उससे आशा की जाती है।"

लिण्टन (Linton) के अनुसार–"जहाँ तक कि भूमिका बाह्य व्यवहार का बोध कराती है यह प्रस्थिति का गतिशील पक्ष है अर्थात् पद का औचित्य सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को जो कुछ करना पड़ता है, वह भूमिका होती है।" अन्यत्र उन्होंने भूमिका को इन शब्दों में परिभाषित किया है–"भूमिका शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रस्थिति से सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है। इस प्रकार, भूमिका के अन्तर्गत उन समस्त अभिवृत्तियों, मूल्यों व व्यवहारों को सम्मिलित किया जाता है जो किसी विशेष पद से सम्बन्धित व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को समाज द्वारा प्रदत्त होते हैं।"

सामाजिक भूमिका से यही तात्पर्य है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति की जो सामाजिक प्रस्थिति (जैसे कक्षा में शिक्षक, अस्पताल में डॉक्टर आदि) है उसी के अनुरूप व्यक्ति से आचरण की (जैसे शिक्षक से पढ़ाने की या डॉक्टर से रोगी की जाँच करने और इलाज करने की) प्रत्याशा की जाती है। प्रस्थिति के अनुसार आचरण की प्रत्याशा और उसके अनुरूप व्यवहार ही सामाजिक भूमिका है।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि सामाजिक पद के दो पक्ष हैं–(1) सामाजिक प्रस्थिति और (5) सामाजिक भूमिका। सामाजिक प्रस्थिति व्यक्ति के अधिकार, प्रतिष्ठा, शक्ति व दायित्व पक्ष को प्रकट करती है तो भूमिका उसके कर्त्तव्य व व्यवहार पक्ष को दर्शाती है। सामाजिक प्रस्थिति इस प्रश्न से सम्बन्धित है कि किसी सामाजिक पद का धारक कौन है, जबकि सामाजिक भूमिका इस प्रश्न का उत्तर देती है कि उससे कैसे आचरण की आशा की जाती है?

5.3.2 भूमिका के प्रमुख तत्त्व

स्वभावतः भूमिका में निम्नलिखित दो प्रमुख तत्त्व होते हैं–

(1) प्रत्याशाएँ–प्रत्येक प्रस्थिति का धारक इस बात को जानता है कि उससे किस आचरण की आशा अन्य सम्बन्धित प्रस्थितियों के धारक कर रहे हैं। विद्यार्थी यह जानता है कि उसके शिक्षक उससे किस आचरण की आशा करते हैं। साथ ही, उसे यह भी ज्ञात है कि शिक्षक को मालूम है कि उसके विद्यार्थी उससे किस प्रकार के आचरण की आशा करते हैं। ये पारस्परिक प्रत्याशाएँ हैं जो सामाजिक भूमिका की मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करती हैं।

(5) बाह्य व्यवहार–केवल मानसिक स्थिति ही भूमिका के लिए पर्याप्त नहीं होती अपितु ज्ञानात्मक जागरूकता तथा अपने दायित्वों व कर्त्तव्यों को व्यवहार में अनुमोदित करना पड़ता है। इसीलिए सामाजिक भूमिका का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व आचरण की प्रत्याशा को बाह्य व्यवहार में रखा जाना है।

5.3.3 भूमिका की प्रमुख विशेषताएँ

भूमिका की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं–

(1) भूमिका सामाजिक जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक है क्योंकि वह सामाजिक व्यवहार पर सीमाएँ लगाती है और व्यवहार को निर्धारित ढंग से चलाने में सहायता प्रदान करती है।

(5) भूमिका के द्वारा किसी भी अन्य क्रिया से सम्बन्धित पक्षों के आचरण की पर्याप्त सीमा तक भविष्यवाणी की जा सकती है, जैसे पुलिस इंस्पेक्टर से आशा की जाती है कि वह अपराधी को गिरफ्तार करेगा।

(3) भूमिका एक तटस्थ शब्द है। इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि आचरण या व्यवहार अच्छा है या बुरा अथवा लाभदायक है या हानिकारक।

(4) किसी भी सामाजिक प्रस्थिति से जुड़ी भूमिकाएँ प्रायः प्रामाणिक होती जाती हैं। समय के साथ–साथ उनका एक रूढ़िगत ढंग विकसित हो जाता है। इसीलिए व्यक्ति की प्रस्थिति का पता चलते ही उसके द्वारा निष्पादित की जाने वाली भूमिका का अनुमान लगाया जा सकता है।

(5) एक व्यक्ति को किसी एक प्रस्थिति के सम्बन्ध में कोई एक भूमिका ही नहीं निभानी पड़ती वरन् उस प्रस्थिति से सम्बन्धित विभिन्न व्यक्तियों के साथ विभिन्न ढंग से भूमिकाएँ

निभानी पड़ती हैं। जैसे एक शिक्षक का व्यवहार एक शिक्षक के रूप में ही अपने सहयोगी शिक्षकों, छात्रों, स्कूल के क्लर्कों व प्रिन्सिपल, कॉलेज के प्रबन्धकों व छात्रों के अभिभावकों से अलग–अलग होता है। इसलिए एक शिक्षक की प्रस्थिति कोई एक भूमिका नहीं वरन् भूमिका विन्यास रखती है, जो उससे सम्बन्धित प्रत्याशित आचरणों का संग्रह है।

(6) एक व्यक्ति की प्रस्थितियों के अनुसार विभिन्न भूमिकाएँ होती हैं, जैसे एक प्रोफेसर केवल प्रोफेसर ही नहीं है वह पिता, पति, भाई, मित्र, नागरिक आदि भी है और उसके अनुरूप उसकी भूमिकाएँ हैं। ऐसी स्थिति को भूमिका बहुलता कहा गया है।

(7) जब व्यक्ति के विभिन्न भूमिका विन्यास हैं तो ऐसी परिस्थिति भी हो सकती है जहाँ व्यक्ति को अपनी भूमिकाएँ निभाने में दो भूमिकाओं में असामंजस्य अनुभव हो तथा वह भूमिका खिंचाव का शिकार हो जाए। ऐसी स्थिति में व्यक्ति भूमिका संघर्ष की परिस्थिति में होता है, जैसे एक शिक्षक परीक्षा केन्द्र पर यदि अपने किसी सम्बन्धी को नकल करते हुए देखे तो वह इस द्वन्द्व में होता है कि परीक्षार्थी को पकड़े या न पकड़े।

(8) भूमिका के निर्धारण से यह आशय नहीं है कि उसका धारक समाज द्वारा प्रत्याशित पूरे व्यवहार का अक्षरशः पालन करेगा। वास्तव में, हर भूमिका के अभिनय में कुछ न कुछ छूट की सम्भावना अवश्य होती है। प्रत्येक धारक कुछ अपने निजी ढंग से व्यवहार कर जाता है। इसलिए समाजशास्त्र में भूमिका अभिनय के सम्बन्ध में तीन अवधारणाएँ प्रयोग की जाती हैं–

(i) भूमिका निर्धारण–इसका आशय उस व्यवहार से है जिसे समाज किसी प्रस्थिति के धारक के लिए निर्धारित करता है।

(ii) भूमिका प्रत्याशा–यह वह आचरण है जिसको कि मूर्त परिस्थिति में सम्बन्धित अन्य व्यक्ति प्रस्थिति के धारक से आशा करते हैं।

(iii) भूमिका–व्यवहार, निर्वाह या सम्पादन–यह वह व्यवहार है जो किसी प्रस्थिति का धारक वास्तव में मूर्त परिस्थिति में करता है।

(9) भूमिका का विश्लेषण प्रायः नाटकीय विश्लेषण मॉडल की सहायता से किया जाता है। जिस प्रकार रंगमंच पर पात्रों के मध्य नाटक खेला जाता है वैसे ही प्रस्थिति के अनुसार भूमिका निष्पादित करनी पड़ती है। जिस प्रकार नाटक के पात्रों का वाक्य पूर्वरचित होता है ठीक उसी प्रकार समाज के आदर्श व मूल्य आदि, भूमिका का निर्धारण पहले से ही कर देते हैं।

(10) प्रस्थिति की भाँति भूमिकाएँ मनुष्य में आरोपित (प्रदत्त या अर्जित) हो सकती हैं। आरोपित भूमिकाएँ वे भूमिकाएँ हैं जो समाज के सदस्यों को कुछ विशेष लक्षणों जैसे लिंग, आयु, पारिवारिक पृष्ठभूमि आदि के आधार पर प्राप्त होती हैं। दूसरी ओर, अर्जित भूमिकाएँ व्यक्ति अपनी प्रदर्शित की जाने वाली योग्यता या उपलब्धि के आधार पर प्राप्त करता है।

5.4 सामाजिक प्रस्थिति

1920 ई० से पूर्व प्रस्थिति से आशय व्यक्ति की उन शक्तियों अथवा सीमाओं से होता था जिन्हें कानून की दृष्टि से मनवाया जा सके। इससे व्यक्ति की उच्चता अथवा हीनता का भाव भी प्रकट किया जाता था। परन्तु शनैः शनैः इस शब्द का प्रयोग किसी व्यक्ति के मूल्यांकन से अलग तटस्थ अर्थ में किया जाने लगा। 1936 ई० रॉल्फ लिण्टन ने इस शब्द का प्रयोग किसी भी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के स्थान अथवा स्थिति को प्रकट करने के अर्थ में किया। उस समय से इसका प्रयोग समाजशास्त्र में भी अधिकाधिक इसी अर्थ में होता रहा है।

किसी सामाजिक समूह को एक सम्बन्धों की संरचना के रूप में देखा जा सकता है। यह संरचना वास्तव में, अन्तर्सम्बन्धित कुछ स्थितियों को दर्शाती है, जैसे एक परिवार में पिता,

माँ, भाई–बहन, भाभी आदि स्थितियाँ हैं या एक कॉलेज में प्रिन्सिपल, शिक्षक, विद्यार्थी, क्लर्क, चपरासी आदि स्थितियाँ ही हैं जिनके अन्तर्सम्बन्धित प्रबन्ध का नाम ही वहाँ की संरचना है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रस्थिति से अभिप्राय किसी समाज अथवा समूह विशेष में पद से होता है। प्रत्येक समाज व समूह में इस प्रकार के अनेक पद होते हैं। इन पदों से व्यक्ति प्रतिष्ठित होता है। किसी व्यक्ति को उतने ही पद प्राप्त होते हैं जितने समूहों में उसकी सदस्यता होती है। इस पद को ही प्रस्थिति की संज्ञा दी जाती है।

कुछ विद्वानों (जैसे रॉल्फ लिण्टन) ने सामाजिक पद तथा सामाजिक प्रस्थिति में कोई भेद नहीं किया है और इन्हें पर्यायवाची अर्थ में प्रयोग किया है। परन्तु कुछ विद्वानों (जैसे जॉनसन) ने इनमें अन्तर किया है। जॉनसन के शब्दों में, "इस प्रकार, एक सामाजिक पद के दो भाग होते हैं, एक में दायित्व निहित होते हैं और दूसरे में अधिकार।....सामाजिक पद के इन दो भागों को हम इसकी भूमिका एवं इसकी प्रस्थिति कहते हैं, 'भूमिका' शब्द दायित्वों को प्रकट करता है और 'प्रस्थिति' अधिकारों की व्याख्या करता है।" जॉनसन की विचारधारा उपयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि विश्लेषण की स्पष्टता के लिए सामाजिक भूमिका व प्रस्थिति में भेद किया ही जाना चाहिए।

5.4.1 प्रस्थिति की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

किसी समाज या समूह में कोई व्यक्ति, निर्दिष्ट समय में जो स्थान प्राप्त करता है उसे प्रस्थिति कहा जाता है। **बीरस्टीड** (Bierstedt) ने समाज को 'प्रस्थितियों का ताना–बाना' (Network of statuses) कहा है। सैद्धान्तिक स्तर पर प्रस्थिति को दो अर्थों में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है–प्रथम अर्थ में इससे एक निश्चित क्रम का पता चलता है अर्थात् इससे उच्च या निम्न भाव प्रकट होते हैं, जैसे किसी ऑफिस में बड़े बाबू को अन्य बाबुओं से अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। दूसरे अर्थ में इससे किसी प्रकार के क्रम का आभास नहीं होता है, जैसे वैवाहिक या आयु प्रस्थिति। समाज में व्यक्तियों की प्रस्थिति का निर्धारण सामाजिक नियमों के अनुसार होता है। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने प्रस्थिति को भिन्न–भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

पारसन्स एवं **शिल्स** (Parsons and Shils) के अनुसार "संस्थाओं के औपचारिक वर्णन में किसी कर्ता के पद का वर्णन यह कहकर किया जाता है कि वह एक प्रस्थिति पर आसीन है।" उनके अनुसार संस्थाएँ समाज द्वारा स्वीकृत कार्य–प्रणालियाँ एवं नियम हैं। इन कार्य–प्रणालियों के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए निर्धारित कार्यकर्ता हैं, जो संस्थाओं के अनुसार विशिष्ट पद रखते हैं। ये पद ही अनेक आचरणों का आधार बन जाते हैं। इसे ही पारसन्स एवं शिल्स के अनुसार प्रस्थिति कहा जाता है।

मैकाइवर एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार–"प्रस्थिति वह सामाजिक पद है, जो अपने धारक के लिए उसके व्यक्तिगत लक्षण या सामाजिक सेवा के अतिरिक्त प्रभाव, प्रतिष्ठा और आदर की मात्रा भी निर्धारित करता है।" इस भाँति, इन विद्वानों ने सामाजिक प्रस्थिति में निश्चित मात्रा में प्रतिष्ठा, आदर व सम्मान के तत्त्व को निहित माना है। वास्तव में, छात्र संघ के नेता की प्रस्थिति साधारण सदस्य की प्रस्थिति से अधिक सम्मान व प्रतिष्ठा रखती है। इन्हीं तत्त्वों पर जोर देते हुए **लिंडग्रेन** (Lindgren) ने भी लिखा है कि "एक पद की प्रस्थिति को उसकी शक्ति, प्रतिष्ठा और अनन्यता के सन्दर्भों में ही परिभाषित किया जाता है।"

इलियट एवं **मैरिल** (Elliott and Merrill) के अनुसार–"प्रस्थिति व्यक्ति का वह पद है जिसे व्यक्ति किसी समूह में अपने लिंग, आयु, परिवार, वर्ग, व्यवसाय, विवाह व उपलब्धियाँ आदि के फलस्वरूप प्राप्त करता है।" **लिण्टन** (Linton) के अनुसार–"किसी विशेष व्यवस्था में किसी समय विशेष में किसी व्यक्ति को जो स्थान प्राप्त होता है वही उस व्यवस्था में उस व्यक्ति की प्रस्थिति कही जाएगी।" **डेविस** (Davis) के अनुसार–"प्रस्थिति किसी भी सामान्य संस्थात्मक व्यवस्था में किसी पद की सूचक है, ऐसा पद जो समाज द्वारा स्वीकृत है और जिसका निर्माण स्वतः ही होता है तथा जो जनरीतियों व रूढ़ियों से सम्बद्ध हैं।" **ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार–"प्रस्थिति की सबसे सरल परिभाषा यह है कि यह समूह में व्यक्ति के पद का प्रतिबिम्ब करती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्थिति से अभिप्राय उस स्थिति अथवा स्थान से होता है जो किसी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति का समूह प्राप्त करता है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूह समाज में अपनी प्रस्थिति के अनुरूप निर्धारित की गई भूमिका को पूरा करते हैं।

5.4.2 प्रस्थिति से सम्बन्धित अन्य अवधारणाएँ

वर्तमान समय में समाजशास्त्र में सामाजिक प्रस्थिति का अध्ययन एवं विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता से किया जाता है। इसके क्षेत्रीय अनुसन्धानों से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न परिस्थितियों में इसे स्पष्ट करने के लिए कुछ अन्य अवधारणाओं की आवश्यकता होती है। सामाजिक प्रस्थिति से सम्बन्धित अन्य प्रमुख अवधारणाएँ निम्नलिखित हैं–

(1) सामाजिक प्रस्थिति तथा पद या ऑफिस–प्रस्थिति से मिलता–जुलता एक अन्य शब्द ऑफिस है। किंग्सले डेविस के विचार में सामाजिक प्रस्थिति का सम्बन्ध लोकाचारों, जनरीतियों आदि से होता है परन्तु जो प्रस्थिति औपचारिक नियमों या औपचारिक संगठन के नियमों के आधार पर मिलती है उसे ऑफिस कहा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण एक प्रस्थिति है परन्तु बैंक मैनेजर एक ऑफिस है। प्रस्थिति सम्पूर्ण समाज या समूह द्वारा स्वीकृत व समर्पित है, जबकि ऑफिस वह प्रस्थिति है जो किसी औपचारिक संगठन में सीमित नियमों द्वारा निर्धारित होती है तथा जिसे सामान्यतः अर्जित किया जाता है। प्रस्थिति तथा ऑफिस दोनों एक–दूसरे को निरन्तर प्रभावित करते हैं।

(5) प्रस्थिति विन्यास अथवा स्टेशन–समाज में एक व्यक्ति की कोई एक प्रस्थिति न होकर अनेक प्रस्थितियाँ एवं पद होते हैं, जैसे किसी कॉलेज के प्रधानाचार्य केवल कॉलेज के ही प्रमुख नहीं हैं अपितु एक पिता, भाई, पति, ससुर, मित्र, स्थानीय नेता, हिन्दू, किसी जाति का सदस्य आदि भी है। एक व्यक्ति के प्रस्थितियों के संकुलन को मर्टन ने प्रस्थिति विन्यास की संज्ञा प्रदान की है। डेविस ने इसी को स्टेशन शब्द के द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "ऐसी दशा के लिए हम स्थिति संकुल शब्द का प्रयोग करते हैं, जिससे तात्पर्य अनेक प्रस्थितियों और ऑफिसों के गुच्छे से है जो किसी व्यक्ति के अधिकार में होते हैं और जिनको सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है।" इस संकुल का निर्धारण व्यक्ति के प्रमुख पदों से होता है।

(3) सामाजिक स्तर या स्तृत–प्रस्थिति से मिलता–जुलता तीसरा शब्द 'स्तर' है। डेविस के अनुसार सामाजिक स्तर हम उस व्यक्ति–समूह को कहेंगे जिनके प्रस्थिति संकुल लगभग एक ही प्रकार के हैं, अर्थात् विभिन्न प्रस्थितियों से एक प्रस्थिति संकुल बनता है और एक समान प्रस्थिति–संकुल वाले व्यक्ति एक स्तर का निर्माण करते हैं, जैसे पूँजीपति वर्ग, श्रमिक

वर्ग, डॉक्टर, वकील आदि। वास्तव में, कोई एक स्तर लगभग एक समान प्रस्थिति संकुल को प्रकट करता है।

(4) प्रस्थिति संदिग्धता या अनेकार्थकता–एक ही समय अनेक प्रस्थितियाँ रखने पर कभी–कभी ऐसी जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि व्यक्ति यह निर्णय करने में असमर्थ रहता है कि अपनी किन्हीं दो प्रस्थितियों में किसके अनुसार कार्य करे। क्योंकि जब वह उनमें से किसी एक प्रस्थिति की माँग पूरी करता है तो दूसरी में व्यवधान उपस्थित होता दिखायी देता है। मोरिश जेल्डिच ने एक अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है। एक महिला डॉक्टर के सामने यह समस्या हो सकती है कि वह अपने किसी पुरुष रोगी के साथ डॉक्टर–रोगी अन्तर्क्रिया की पूर्ति, अपनी पुरुष प्रस्थिति को देखते हुए कैसे करे। ऐसी प्रस्थिति को प्रस्थिति संदिग्धता कहा गया है। इसमें व्यक्ति प्रस्थिति खिंचाव अनुभव करता है। वह इससे बचने के लिए विभिन्न मार्गों को अपनाता है। जैसे वह किसी एक सम्बन्ध में अन्तर्क्रिया करने से ही भागने लगता है या संरचना को ही बदलने का प्रयत्न करता है। ऐसे प्रयासों से सम्बन्धित प्रक्रिया को लेन्सकी ने प्रस्थिति क्रिस्टलीकरण अथवा स्फाटिकीकरण तथा होमन्स ने प्रस्थिति निश्चयता अथवा निश्चिति कहा है।

(5) प्रस्थिति अनुक्रम–अनेक बार किसी कर्ता के लिए यह आवश्यक होता है कि वह किसी प्रस्थिति को प्राप्त करने के लिए पहले अनेक प्रस्थितियों से गुजरा हो। उदाहरणार्थ, जेल्डिच ने लिखा है कि एक डॉक्टर बनने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति पहले मेडिकल कॉलेज में छात्र रहे, फिर इन्टेन रहे और फिर रेजीडेंट। समाज में अनेक प्रस्थितियाँ हैं जिनकी प्राप्ति से पहले कुछ अन्य का अनुभव होना आवश्यक है। ऐसी दशा को प्रस्थिति अनुक्रम कहा जाता है।

(6) प्रस्थिति मूल्यांकन–प्रत्येक प्रस्थिति किसी अन्य प्रस्थिति की तुलना में ही अर्थपूर्ण होती है, जैसे पुत्र की प्रस्थिति शब्द आते ही माता अथवा पिता की प्रस्थिति स्वयं ही सम्मुख आ जाती है। इसलिए प्रायः समाज में प्रस्थिति मूल्यांकन भी होता है। एक प्रस्थिति दूसरे की तुलना में अधिक या कम सम्मानित अथवा शक्ति–सम्पन्न मानी जाती है। अतः मूल्यांकन के लिए प्रतिष्ठा, सम्मान आदर, श्रेणी, शक्ति जैसे चरों का प्रयोग किया जाता है। किंग्सले डेविस ने इन मूल्यांकन सन्दर्भों का वर्णन किया है। प्रतिष्ठा शब्द प्रस्थिति का मूल्यांकन है, डॉक्टर की प्रस्थिति नर्स से अधिक प्रतिष्ठित है। समाज शब्द के द्वारा किसी प्रस्थिति के अनुसार किए गए व्यवहार के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है। उदाहरणार्थ, डॉक्टरों में भी कुशल सर्जन अधिक सम्मानित माना जाता है। आदर व प्रतिष्ठा पर्यायवाची है। श्रेणी किन्हीं प्रस्थितियों को शीर्षस्थ पैमाने पर रखकर मापती है, जैसे प्रथम श्रेणी के ऑफीसर और द्वितीय श्रेणी के ऑफिसर तथा तृतीय श्रेणी के कर्मचारी आदि। शक्ति से आशय किसी प्रस्थिति की उस क्षमता से होता है जिसके द्वारा उस प्रस्थिति को धारण करने से सम्बन्धित व्यक्ति, अन्य व्यक्तियों को अपनी इच्छित दिशा में कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है, जैसे प्रधानमन्त्री अपने अन्य मन्त्रियों से अधिक शक्ति–सम्पन्न होता है।

इस प्रकार का मूल्यांकन, समाज के मूल्यों के आधार पर, प्रस्थिति को ऊँच–नीच क्रम में रख देता है तथा प्रत्येक प्रस्थिति का अपना एक निजी महत्त्वपूर्ण अस्तित्व बना देता है। प्रस्थिति के साथ सन्तुष्टि का भाव जुड़ जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति या तो बनाए रखना चाहता है या ऊँचा करना चाहता है। यदि व्यक्ति को वह सम्मान, प्रतिष्ठा अथवा शक्ति न मिले जिसका वह अपने को अधिकारी समझता है तो व्यक्ति स्वयं को वंचना का शिकार समझता है।

5.4.3 प्रस्थिति की प्रमुख विशेषताएँ

प्रस्थिति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) प्रस्थिति की अवधारणा व्यक्तियों के गुणों या लक्षणों का विषय न होकर सामाजिक संगठन या संरचना का तत्त्व है। अतः यह सामाजिक नियमों पर ही आधारित है।

(5) प्रस्थिति द्वारा यह परिभाषित किया जाता है कि व्यक्ति कौन है ? जैसे अध्यापक, शिष्य महिला, मन्त्री आदि।

(3) बहुधा समाज में प्रचलित भाषा अनेक शब्दों द्वारा प्रस्थिति का परिचय दे देती है, जैसे बहन या भतीजा शब्द बता देते हैं कि नातेदारी समूह में व्यक्ति की क्या प्रस्थिति है। परन्तु कभी–कभी भाषा प्रस्थिति का आभास नहीं दे पाती, जैसे, सुन्दर एवं साँवली में विशेष प्रस्थिति का पता नहीं चलता।

(4) कोई भी प्रस्थिति किसी भी सामाजिक प्रस्थिति में व्यक्ति को अपने क्षेत्र में सम्मिलित नहीं करती, क्योंकि तभी तो–

(अ) दो एक–सी योग्यताओं या रुचियों के व्यक्ति भी एक ही प्रस्थिति को धारण करने पर एक–सा ही व्यवहार नहीं करते हैं।

(ब) दो एक–सी योग्यताओं या रुचियों के व्यक्ति दो विभिन्न प्रस्थितियों के धारक होते हैं तो भी उनका दृश्यगत व्यवहार भिन्न–भिन्न होता है।

(5) प्रस्थिति सामाजिक व्यवस्था की एक इकाई होती है, इसलिए समाजशास्त्रियों द्वारा अध्ययन की आधारभूत इकाइयों में सामाजिक प्रस्थिति का समावेश होता है।

(6) किसी भी सामाजिक प्रस्थिति को किसी अन्य सामाजिक प्रस्थिति के सन्दर्भ में ही परिभाषित किया जा सकता है, जैसे माता की प्रस्थिति का अर्थ सन्तान की प्रस्थिति से ही समझा जा सकता है। इस प्रकार, समाजशास्त्र में प्रस्थिति स्वयं अध्ययन की इकाई न होकर प्रस्थिति तथा उसकी अन्य प्रतिप्रस्थिति (Counter status) विश्लेषण की इकाई है। कम से कम दो प्रस्थितियों के बीच अन्तर्सम्बन्ध ही वस्तुस्थिति को स्पष्ट कर सकता है।

(7) प्रस्थिति को उसके धारक की सम्पत्ति के रूप में भी देखा जा सकता है, क्योंकि उससे सम्बन्धित अधिकार, प्रतिष्ठा, शक्ति का प्रयोग धारक के द्वारा ही होता है। इस अर्थ में प्रस्थिति एक गत्यात्मक (Dynamic) अवधारणा हो जाती है, क्योंकि एक–सी प्रस्थिति में दो विभिन्न क्षमताओं वाले व्यक्ति भिन्न–भिन्न निर्णय ले सकते हैं। क्रुद्ध भीड़ को नियन्त्रित करने में एक ही पद के दो पुलिस अधिकारी अलग–अलग व्यवहार कर सकते हैं।

(8) वास्तव में, प्रत्येक प्रस्थिति किसी की संरचना की वह प्रवृत्ति होती है कि ये स्थिर होती जाती है। प्रस्थिति संरचना में परिवर्तन कठिनाई से होता है, क्योंकि एक प्रस्थिति के परिवर्तन से उससे सम्बन्धित अन्य प्रस्थितियों के धारकों पर प्रभाव पड़ता है, उनके हित प्रभावित होते हैं और वे इस परिवर्तन का विरोध करने की प्रवृत्ति रखते हैं।

(9) सामाजिक प्रस्थितियों की संरचना की यह प्रवृत्ति होती है कि ये स्थिर होती जाती है। प्रस्थिति संरचना में परिवर्तन कठिनाई से होता है, क्योंकि एक प्रस्थिति के परिवर्तन से उससे सम्बन्धित अन्य प्रस्थितियों के धारकों पर प्रभाव पड़ता है, उनके हित प्रभावित होते हैं और वे इस परिवर्तन का विरोध करने की प्रवृत्ति रखते हैं।

(10) प्रस्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण होती है कि उसका प्रतीकात्मक पक्ष भी विकसित हो जाता है, जिसे प्रस्थिति प्रतीकवाद (Status symbolism) कहा गया है। वस्त्रों, भाषा,

पारिश्रमिक मिलने का ढंग सभी प्रस्थिति के प्रतीक बन जाते हैं, जैसे विवाहित महिलाएँ बिछुएँ पहनती हैं या माँग में सिन्दूर लगाती हैं। ये वैवाहिक प्रस्थिति के प्रतीक हैं।

5.4.4 प्रस्थितियों के प्रकार

प्रत्येक समाज व सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति अथवा समूह की प्रस्थितियों में विभिन्नता अथवा असमानता पाई जाती है। प्रस्थितियों का निर्धारण करने वाले कारण भी भिन्न–भिन्न होते हैं। प्रस्थितियों का निर्धारण अनेक कारणों द्वारा होता है। इन सबको दृष्टिगत रखकर प्रस्थितियाँ मुख्य रूप से दो भागों में वर्गीकृत की जा सकती है–(अ) प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status) तथा (ब) अर्जित प्रस्थिति (Achieved Status)।

(अ) प्रदत्त प्रस्थिति

प्रदत्त प्रस्थिति को आरोपित प्रस्थिति भी कहा जाता है। आरोपित प्रस्थिति व्यक्ति की वे प्रस्थितियाँ हैं जो व्यकित को बिना किसी प्रयत्न किए समाज व समूह से प्राप्त हो जाती हैं। ये प्रस्थितियाँ व्यक्ति को जन्म से ही सामाजिक व्यवस्था एवं परम्परागत नियमों के अनुरूप प्राप्त हो जाती हैं। व्यक्ति की योग्यता या कार्य इसका निर्धारण नहीं करते। उदाहरण के लिए, राजतन्त्र में किसी राजा का लड़का प्रायः राजा ही बनता है। इसे इस प्रस्थिति के लिए कोई विशेष योग्यता प्राप्त नहीं करनी पड़ती है। प्रदत्त प्रस्थितियों के आधार निम्नलिखित होते हैं–

(1) लिंग–सभी मानव समाजों में प्रायः लिंग के आधार पर प्रस्थितियों का विभाजन होता है। लिंग एक जैविक तथ्य है तथा जन्म के समय ही शारीरिक लक्षणों के आधार पर बालक के लिंग का निर्धारण हो जाता है। समाज सबसे सरल रूप में और निश्चयात्मक ढंग से यौनिक भिन्नता के आधार पर स्त्री–पुरुष को एक–दूसरे के पूरक प्रस्थिति प्रदान कर देता है और शिशु की ट्रेनिंग भी लिंग के आधार पर प्रारम्भ की जाती है। भारतीय समाज में लड़के का पद लड़की की अपेक्षा ऊँचा है। लड़कों को जीविकोपार्जन एवं सुरक्षा के भारी कामों के लिए तैयार किया जाता है और लड़की को कोमल, गृहस्थ में बालकों के प्रजनन और लालन–पालन के दायित्वों के लिए तैयार किया जाता है। नर और नारी तो जैविक तथ्य हैं, परन्तु पुत्र–पुत्री या पति–पत्नी सामाजिक तथ्य हैं और इनसे सम्बन्धित प्रस्थितियों का स्वरूप भी प्रत्येक समाज में भिन्न–भिन्न है और उनके अनुसार उनसे व्यवहार की प्रत्याशाएँ भी अलग–अलग हैं। मातृसत्तात्मक, मातृवंशीय परिवारों में स्त्री को पुरुष की अपेक्षा ऊँचा स्थान दिया जाता है।

(5) आयु–लिंग की भाँति आयु भी एक निश्चित और शारीरिक तथ्य है। यौन और आयु के मध्य अन्तर यह है कि लिंग जीवनपर्यन्त बदलता नहीं पर आयु प्रति क्षण बदलती रहती है। इसलिए आयु के आधार पर प्रदत्त प्रस्थिति भी समय–समय पर बदलती रहती है। प्रत्येक समाज में जनसंख्या को आयु के आधार पर विभाजित करके उन्हें विशेष प्रस्थिति प्रदान करने का चलन है। भारतीय समाज में आयु का बड़ा मान है। सफेद बाल परिपक्व अनुभव के प्रतीक माने जाते हैं। प्रायः आयु का विभाजन शिशुत्व, बालपन, किशोरावस्था, यौवन, प्रौढ़ता व वृद्धता में किया जाता है। प्राचीन भारतीय समाज में आयु के आधार पर सम्पूर्ण जीवन को पच्चीस–पच्चीस वर्ष के चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) में बिताने की व्यवस्था थी। प्रत्येक आश्रम के अनुसार व्यक्ति की पृथक् प्रस्थिति और उसके दायित्व थे। समाज में अनेक निश्चय आयु के आधार पर ही किए जाते हैं, जैसे विवाह योग्य आयु, शिक्षा प्राप्ति की आयु, विभिन्न नौकरियों के लिए आयु तथा सेवानिवृत्ति की आयु आदि। इनसे समाज में आयु का महत्त्व प्रकट होता है। किसी समाज में किस आयु–समूह की प्रस्थिति ऊँची होगी,

यह वहाँ की संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ, जो समाज बहुत संघर्षमय, कठोर व युद्धरत जीवन बिताते हैं वहाँ युवा वर्ग की प्रस्थिति सबसे अधिक प्रतिष्ठित मानी जाती है। इसके विपरीत जहाँ स्थायी, शान्तिमय एवं उद्यमी समाज है वहाँ आयु का बड़ा मान होता है। एस्कीमों पहली श्रेणी के समाज में आयेंगे, जहाँ वृद्ध व्यक्ति एक भार समझा जाता है और वहाँ उनकी हत्या तक कर दी जाती है, जबकि दूसरी श्रेणी में भारत ऐसा समाज है जहाँ वृद्ध पूज्य माने जाते हैं। बालक को अपरिपक्व व नासमझ मानकर अनेक भूलों के लिए क्षमा कर दिया जाता है। यद्यपि सामान्य औपचारिक पदों से व्यक्ति को एक निश्चित आयु (55 वर्ष व 60 वर्ष के बीच) में सेवानिवृत्त कर दिया जाता है, तो भी कुछ प्रस्थितियाँ (जैसे प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति आदि) ऐसे सामाजिक महत्त्व की हैं कि ये आयु में काफी बड़े व्यक्ति को भी दिये जा सकते हैं। इसके पीछे यह धारणा होती है कि उनका मस्तिष्क पूर्णतः परिपक्व होता है क्योंकि वे विभिन्न अनुभवों से सम्पन्न होते हैं तथा इसीलिए नीति–निर्धारण व दिशा–निर्देशन के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं।

(3) नातेदारी–नातेदारी का आधार परिवार है और परिवार एक सार्वभौमिक व समाज की मूलभूत संस्था है। बच्चे का लालन–पालन का भार सबसे पहले माता पर जाता है। वे कुछ प्रस्थितियाँ बालक में अपने अनुरूप आरोपित करते हैं, जैसे गोत्र, जाति, धर्म, नागरिकता और कुछ सीमा तक वर्ग प्रस्थिति भी। ये सब प्रस्थितियाँ व्यक्ति को अपने माता–पिता के अनुरूप ही मिल जाती है और इसके अनुसार ही मानव–शिशुओं का समाजीकरण किया जाता है। व्यक्ति केवल माता–पिता के अनुरूप ही समाज द्वारा प्रदत्त प्रस्थिति नहीं पाता वरन् विस्तृत नातेदारी व्यवस्था के द्वारा अनेक अन्य प्रस्थितियाँ भी प्राप्त कर लेता है, जेसे वह भाई, भतीजा, चचेरा भाई, भांजा, पौत्र, धेवता आदि भी होता है।

प्रत्येक समाज में नातेदारी के नियम भिन्न–भिन्न होते हैं। कहीं माता की बड़ी शक्तिशाली प्रस्थिति है तो कहीं पिता का दर्जा सर्वोच्च है। हिन्दुओं में यह नातेदारी ही है जो पति के बड़े भाई को जेठ और छोटे को देवर की प्रस्थिति प्रदान कर देती है। चाहे उनमें आपस में आयु–अन्तर साधारण ही क्यों न हो, दोनों के साथ नारी के व्यवहार में आकाश–पाताल का अन्तर है। जेठ से पर्दा किया जाता है, दूरी रखी जाती है और अन्तर्क्रियाएँ कम से कम की जाती हैं, जबकि देवर से हँसी–मजाक किया जाता है और सामीप्य रखा जाता है।

(4) प्रदत्त प्रस्थितियों के अन्य आधार–समाज में प्रदत्त प्रस्थिति आरोपण के कुछ अन्य भी आधार होते हैं–

(i) जाति–भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार जाति है जो प्रस्थिति निर्धारण का महत्त्वपूर्ण कारक है। बच्चे को जन्म से ही अपने पिता की जाति की सदस्यता प्राप्त हो जाती है। जाति व्यवस्था क्रमबद्ध व्यवस्था है जहाँ ब्राह्मण जातियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं तो बिलकुल नीचे अस्पृश्य जातियाँ रही हैं। जाति विवाह, व्यवसाय, खान–पान, वस्त्र–विन्यास सभी कुछ को प्रभावित करती है। आज भारतीय राजनीति भी जाति के प्रभाव से अछूती नहीं है। जाति द्वारा प्रदत्त प्रस्थिति को व्यक्ति अपने किसी भी प्रयास से बदल नहीं सकता है।

(ii) प्रजाति–शरीर के रंगरूप व बनावट के आधार पर भी मानव का विभाजन प्रजातियों में किया जाता है। सिर की बनावट, नासिका की बनावट, आँखों का रंग व ढाँचा, वर्ण आदि के आधार पर विश्व की जनसंख्या प्रमुखतः तीन प्रजातियों–श्वेत काकेशयड, पीत मंगोलॉयड तथा श्याम नीग्रॉयड में विभक्त की गई हैं। स्पष्टतः प्रजाति एक जैविक अवधारणा है क्योंकि शारीरिक लक्षण प्रजनन की प्रक्रिया द्वारा माता–पिता से बालक को प्राप्त होते हैं। परन्तु

रंग–भेद पर आधारित प्रजातिवाद विश्व में गम्भीर सामाजिक समस्या बन गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका, अफ्रीका के कुछ राष्ट्र, ब्रिटेन आदि में गोरे और काले व्यक्तियों के बीच जबरदस्त सामाजिक भेदभाव व पक्षपात है। सामन्यतः नीग्रो लोगों को सफेद लोगों की अपेक्षा निम्न प्रस्थिति प्राप्त है।

(iii) वैधता–वैवाहिक सम्बन्धों से बाहर शिशु जन्म समाज द्वारा हेय दृष्टि से देखा जाता है और ऐसी अवैध सन्तान जन्म से हीन सामाजिक प्रस्थिति की धारक बन जाती है। कहीं उसे हरामी, कहीं टॉमी और कहीं नाजायज औलाद कहा जाता है और पिता की सम्पत्ति सम्बन्धी मामलों में उसके अधिकार भिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न होते हैं।

(iv) गोद लेना–इस सामाजिक क्रिया द्वारा वयस्क व्यक्ति किसी अन्य बालक को विधिवत् अपना पुत्र या पुत्री स्वीकार कर ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार बालक को स्वतः ही सन्तान की प्रस्थिति प्राप्त हो जाती है। हिन्दुओं में यह प्रथा अधिक प्रचलित है, मुसलमानों में नहीं।

(v) कुछ विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियाँ–माता–पिता की मृत्यु अथवा विवाह–विच्छेद, जुड़वाँ बच्चों का जन्म, परिवार में कुल बच्चों की संख्या आदि ऐसी विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियाँ हैं जो बच्चे की प्रस्थिति निर्धारण में महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं, जैसे हिन्दुओं में पिता की मृत्यु के बाद बड़े लड़के की पगड़ी की रस्म होती है और वह परिवार का मुख्य माना जाता है। ऐसे ही, कुछ समाजों में जुड़वाँ बच्चे अभिशाप के सूचक होते हैं और यहाँ तक कि वे मार भी डाले जाते हैं।

(ब) अर्जित प्रस्थिति

प्रदत्त प्रस्थिति के विपरीत अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति की वह स्थिति है जो उसने अपने जन्म के आधार पर नहीं अपितु अपनी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर प्राप्त की है। समाज में अनेक प्रकार के पद होते हैं तथा इन पदों की प्राप्ति के लिए अनिवार्य विशिष्ट योग्यताएँ होती हैं। व्यक्ति द्वारा अपने प्रयास से किसी पद को प्राप्त करना उसकी अर्जित प्रस्थिति है। आधुनिक मुक्त समाज में अधिकांश प्रस्थितियाँ अर्जित ही होती हैं। अर्जित प्रस्थितियों के आधार प्रायः निम्नलिखित हैं–

(1) शिक्षा–औपचारिक शिक्षा कुछ अर्जित पदों की प्राप्ति में अनिवार्य शर्त होती है। विभिन्न नौकरियों के लिए प्रायः शिक्षा की न्यूनतम योगयताएँ निर्धारित होती हैं। अशिक्षित की अपेक्षा शिक्षित व्यक्ति की प्रस्थिति समाज में अधिक आदर व प्रतिष्ठा की पात्र होती है।

(5) प्रशिक्षा–डॉक्टर, अध्यापक, इन्जीनियर, मैकेनिक आदि प्रस्थितियों के लिए विशिष्ट प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक होता है। वस्तुतः औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप से प्रशिक्षण की आवश्यकता हर तकनीकी क्षेत्र के लिए आवश्यक है।

(3) धन–सम्पदा–आज के भौतिकवादी युग में धन–सम्पदा भी प्रस्थिति अर्जन का एक आधार है। धन के आधार पर ही उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग श्रेणीबद्ध होते हैं। धन, वास्तव में, शक्ति का स्वरूप है अतः इसका बहुत मान है। ज्यों–ज्यों धन बढ़ता जाता है त्यों–त्यों व्यक्ति का मान भी बढ़ता जाता है।

(4) त्याग–भारतीय संस्कृति में सदा से ही त्याग व तपस्या का बहुत उच्च सामाजिक मूल्य है। त्यागी व तपस्वी अन्य सभी सामाजिक प्रस्थितियों के धारकों की तुलना में ऊँचे माने जाते हैं। रेदास जाति से चमार होते हुए भी व कबीर जुलाहा होते हुए भी त्याग के कारण महात्मा का पद प्राप्त करने में सफल रहे। आज भी ये मूल्य सम्मानदायक हैं।

(5) राजनीतिक प्रभाव–किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीति समाज के प्रस्थिति वितरण में महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया होती है। शक्तिशाली राजनीतिक दलों से सम्बन्धित किसी भी स्तर के नेता अपने प्रभाव–क्षेत्र में ऊँचे–माने जाने लगते हैं। सत्तारूढ़ दल के सदस्यों की प्रस्थिति तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है। चुनाव की प्रक्रिया के विशेषज्ञ जोड़–तोड़ द्वारा राजनीतिक पद प्राप्ति द्वारा नवीन प्रस्थितियों की प्राप्ति करते हैं। विस्तृत अर्थों में यही बात अन्य सामाजिक या धार्मिक संघों पर भी लागू होती है। ये भी हित समूहों अथवा प्रभावी समूहों के रूप में शक्ति संचालन में महत्त्वपूर्ण ढंग से क्रियाशील होते हैं। अतः राजनीतिक शक्ति एवं सत्ता भी अर्जित प्रस्थितियों के आधार के रूप में कार्य करते हैं।

(6) शारीरिक शक्ति–कुछ समाजों में, विशेषतः आदिवासी समाजों में, शारीरिक बल या चतुराई के आधार पर भी व्यक्ति प्रस्थिति की प्राप्ति करता है। जो जितना शक्तिशाली होता है वह उतना ही ऊँचा नेतृत्व पद पाता है। परन्तु आधुनिक औद्योगिक समाजों में इस कारक का महत्त्व घटता जा रहा है।

प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थितियों में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर पाए जाते हैं–

(1) प्रदत्त प्रस्थितियाँ समाज की सामान्य स्थितियों से सम्बन्धित होती हैं जैसे माता, युवा, महिला आदि, जबकि अर्जित प्रस्थितियाँ विशिष्ट स्थितियों से सम्बन्धित हैं जैसे प्रोफेसर, इन्जीनियर, मजदूर आदि।

(5) प्रदत्त प्रस्थिति का स्वभाव सार्वभौमिक होता है अर्थात् वे पूरे समाज में एक रूप में देखी और समझी जाती है, जबकि अर्जित प्रस्थिति विशिष्ट स्वभाव की होती है और उनमें क्षेत्रीय भिन्नताएँ हो सकती हैं।

(3) प्रदत्त प्रस्थिति का स्वभाव स्थिर होता है, जबकि अर्जित प्रस्थिति सापेक्षिक रूप में अधिक गत्यात्मक व परिवर्तनशील होती है। उदाहरणार्थ, जातिगत प्रस्थिति तो स्थायी रहती है, जबकि धन या राजनीतिक शक्ति के आधार पर व्यक्ति की प्रस्थिति उसके जीवनकाल में कई बार ऊँची–नीची हो सकती है।

(4) प्रदत्त प्रस्थितियाँ समाज में बन्द संस्तरण का आधार हैं और अर्जित प्रस्थितियाँ मुक्त संस्तरण का निर्माण करती हैं।

(5) प्रदत्त प्रस्थिति की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है। इसकी प्राप्ति उसे सहज वह स्वतः ही हो जाती है। यह व्यक्ति को समाज द्वारा सहज ही प्रदान कर दी जाती है। इसके विपरीत, अर्जित प्रस्थिति के लिए व्यक्ति को प्रयास करना पड़ता है।

(6) अपने आधारों की दृष्टि से भी प्रदत्त तथा अर्जित प्रस्थितियाँ भिन्न–भिन्न हैं। प्रदत्त प्रस्थितियों के आधार लिंग, नातेदारी, जाति, परिवार, वंशानुक्रम आदि हैं, जबकि अर्जित प्रस्थिति के आधार शिक्षा, धन, नौकरी, राजनीतिक शक्ति आदि हैं।

(7) प्रदत्त प्रस्थितियाँ सामूहिक एकता के उद्देश्यों पर आधारित होती हैं, जबकि अर्जित प्रस्थितियों का मूल सिद्धान्त व्यक्तिगत हितों की पूर्ति व व्यक्तित्व का विकास है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अर्जित पद सामूहिक हित की पूर्ति नहीं करते या प्रदत्त पर व्यक्तित्व के विकास में बाधक हैं, अपितु यह बात ध्यान देने योग्य हैं कि प्रस्थिति के वितरण में दोनों मामलों में किस पर अधिक जोर दिया जाता है।

(8) कभी–कभी प्रदत्त प्रस्थिति और अर्जित प्रस्थिति के मध्य संघर्ष या खिंचाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए, परिवार की बहू परम्परागत रूप और उसी नारी के कामकाजी आधुनिक रूप होने से उसकी प्रस्थिति में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

वह अपने व्यवसाय के पद और बहू की प्रस्थिति में सन्तुलन बनाए रखने में कठिनाई का अनुभव कर सकती है।

(9) प्रदत्त प्रस्थितियाँ व्यक्ति के जीवन में सर्वप्रथम आती हैं और अर्जित प्रस्थितियाँ वह अपने जीवन के बाद के काल में प्राप्त करता जाता है अर्थात् दोनों में समय की दृष्टि से भी अन्तर है।

(10) प्रदत्त प्रस्थितियाँ व्यक्ति को मानसिक सुरक्षा प्रदान करती हैं, जबकि अर्जित प्रस्थितियाँ प्रतियोगिता पर आधारित होने के कारण सदैव असुरक्षा का तत्त्व बनाये रखती हैं।

उपर्युक्त असमानताओं का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रदत्त प्रस्थिति और अर्जित प्रस्थिति एक–दूसरे के बिल्कुल विपरीत अथवा विरोधी हैं क्योंकि इन दोनों के बीच महत्त्वपूर्ण अन्तर्सम्बन्ध भी है जो इनके पूरक स्वभाव को प्रकट करता है।

प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थितियों के मध्य प्रमुख अन्तर्सम्बन्ध निम्नलिखित रूप में प्रकट होता है–

(1) प्रदत्त प्रस्थिति अर्जित प्रस्थिति की प्राप्ति के लिए साधन व सीमा का निर्धारण करती है, जैसे अमेरिका में कोई नीग्रो या महिला आज तक वहाँ का प्रेसीडेन्ट नहीं हुआ है या निर्धारित कद के बिना व्यक्ति सेना में भर्ती नहीं हो सकता।

(5) अर्जित प्रस्थिति कभी–कभी प्रदत्त प्रस्थिति की संरचना में अन्तर कर देती है, जैसे तमिलनाडु के नाडारों ने, जो पिछले 80-90 वर्ष पहले निम्न जाति (अछूतों से थोड़ी–सी उच्च जाति) के समझे जाते थे, शिक्षा व व्यवसाय के क्षेत्र में उन्नति कर तथा राजनीतिक शक्ति के आधार पर जाति संरचना में उच्च श्रेणी प्राप्त कर ली है। इससे वे अपनी अर्जित स्थिति के आधार पर अपनी प्रदत्त स्थिति में परिवर्तन करने में सफल रहे हैं।

(3) अर्जित प्रस्थिति में प्रदत्त स्थिति की तरह प्रतियोगिता को कम से कम करने का प्रयास किया जाता है। उदाहरणार्थ, मजदूर, व्यवसायी, पदाधिकारी संघ आदि सभी यह प्रयास करते हैं कि वे भी आपस में प्रतियोगिता कम से कम करें। समाज सभी मामलों में अवसरवादिता की भर्त्सना ही करता है।

(4) प्रदत्त प्रस्थिति के लिए भी कुछ प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, जैसे जाति से ब्राह्मण को भी कर्मकाण्ड करने और कराने के लिए शिक्षण लेना पड़ता है।

(5) नातेदारी जैसी सहज प्रदत्त प्रस्थितियों के दायित्वों को निभाने के लिए भी योग्यता, कुशलता, साधन और प्रयास की आवश्यकता होती है।

छोटे और परम्परागत समुदायों में प्रदत्त अथवा आरोपित प्रस्थितियों का महत्त्व अधिक होता है, जबकि आधुनिक और वृहद् समाजों में अर्जित प्रस्थिति का महत्त्व अधिक माना जाता है। परन्तु प्रकार्यात्मक दृष्टि से ये दोनों ही प्रस्थितियाँ एक–दूसरे से जुड़ी हैं और पूरक स्वभाव की हैं। समाज के अस्तित्व के लिए दोनों का होना भी अनिवार्य है। इसलिए किसी भी ऐसे मूर्त समाज की कल्पना करना ही निराधार है जहाँ केवल प्रदत्त प्रस्थिति ही हो या अर्जित प्रस्थिति ही हो। प्रत्येक समाज में प्रदत्त व अर्जित दोनों ही प्रकार की प्रस्थितियाँ पायी जाती हैं। यद्यपि ये प्रस्थितियाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से परस्पर विरोधी हैं पर कार्यात्मक व व्यवहारात्मक दृष्टि से एक–दूसरे की पूरक होती हैं। व्यावहारिक जीवन में समाज में दोनों ही प्रस्थितियों का समान रूप से महत्त्व होता है। प्रत्येक समाज में प्रदत्त प्रस्थितियाँ व्यक्ति की प्रारम्भिक स्थिति के निर्धारण में सहायता प्रदान करती हैं। अर्जित प्रस्थितियाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास कर उसके व्यक्तित्व का अन्तिम रूप से निर्धारण करती हैं। किंग्सले डेविस का कहना है कि किसी मूर्त सामाजिक प्रस्थिति को, सामान्य रूप से, अंशतः आरोपित तथा अंशतः अर्जित ही कहा जा

सकता है। इस दृष्टि से प्रस्थिति का आरोपण तथा अर्जन काल्पनिक ही है, लेकिन इसके उपरान्त भी ये महत्त्वपूर्ण हैं।

5.4.5 प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्त्व

अन्त में, कुछ कतिपय प्रश्न उभरते हैं जैसे कि प्रस्थिति और भूमिका का निर्धारण समाज क्यों करता है? प्रस्थितियों और भूमिकाओं के व्यक्तिगत और सामाजिक परिणाम क्या हैं? इनका समाज के जीवन में क्या योगदान है? इन प्रश्नों का उत्तर प्रस्थिति और भूमिका के महत्त्व के स्पष्टीकरण द्वारा निम्नांकित प्रकार से दिया जा सकता है–

(1) व्यक्तियों के लिये महत्त्व–प्रस्थितियाँ समाज में व्यक्ति के पद को निर्धारित करती हैं, जबकि भूमिकाएँ उसके कार्यों को परिभाषित करती हैं। व्यक्तियों के लिए भूमिका दो प्रकार से महत्त्वपूर्ण है–प्रथम, यह सामाजिक क्रियाओं के लिए मार्गदर्शन करती है। व्यक्ति हर बार नए सिरे से स्वयं ही निर्णय लेने और सोचने से बच जाता है। अगर प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति को यह सोचना पड़ता कि वह क्या करे तो उसके श्रम का अत्यधिक भाग प्रयास और भूल सुधार में ही खो जाता तथा द्वितीय, सामाजिक भूमिकाएँ प्रस्थितियों के अनुरूप कार्यों को भविष्यवाणी की क्षमता प्रदान कर देती हैं। एक–दूसरे की क्रियाओं के पूर्वानुमान को सम्भव बनाकर भूमिकाओं ने हमारे जीवन को सुगम और सुरक्षित बना दिया है।

(5) सामाजिक संगठन के लिए महत्त्व–सामाजिक संगठन के लिए भी भूमिकाएँ तीन महत्त्वपूर्ण परिणामों को जन्म देती हैं–प्रथम, जिस सीमा तक सामाजिक प्रस्थितियों के अनुरूप भूमिकाओं का पालन किया जाता है उस सीमा तक सामाजिक संगठन स्थायी, एकताबद्ध और सुदृढ़ बनता है, द्वितीय, ये संगठन की प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी सहायक हैं। सदस्यों द्वारा प्रस्थितियों के अनुरूप निष्ठापूर्वक अपनी भूमिकाओं के निर्वाह से ही किसी सामाजिक संगठन का अस्तित्व बना रह सकता है तथा तृतीय, कुछ अप्रत्याशित भूमिकाएँ सामाजिक संगठन के लिए हानिकारक भी होती हैं, जैसे कुछ युवाओं की तोड़–फोड़ की कार्यवाही या अपराधी दलों के कार्य।

(3) समाज की प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति–प्रस्थिति तथा भूमिका समाज की प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी चार प्रकार से सहायक है–प्रथम, इनमें श्रम–विभाजन का कार्य सरल हो जाता है, द्वितीय, इनसे समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता की पूर्ति होती है, तृतीय इनसे व्यक्ति को कठिन परिश्रम के लिए प्रेरणा मिलती है तथा चतुर्थ, इनसे समाज में निरन्तरता व स्थिरता बनी रहती है।

प्रस्थिति व भूमिका यद्यपि परस्पर सम्बन्धित हैं, तथापि दोनों के मध्य अन्तर पाया जाता है। दोनों का पृथक्–पृथक् अस्तित्व है। समाज में प्रस्थितियाँ समान होने पर भी भूमिका निभाने के तरीके भिन्न–भिन्न होते हैं। प्रस्थिति एवं भूमिका के अर्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्थिति एक पद है, जबकि भूमिका उस पद के अनुरूप किया जाने वाला कार्य है। प्रस्थितियाँ सांस्कृतिक होती हैं, जबकि भूमिकाएँ व्यवहारात्मक। भूमिका व प्रस्थिति अनिवार्य रूप से अन्योन्याश्रित नहीं होतीं। भूमिका के बिना प्रस्थिति हो सकती है, जबकि प्रस्थिति के अभाव में भूमिका नहीं हो सकती है। उदाहरण के लिए, एक उच्च अधिकारी सफेदपोश अपराधी हो सकता है। उसकी अपराधी भूमिका उसकी प्रस्थिति के अनुरूप नहीं है। साथ ही, प्रस्थिति को प्राप्त किए बिना ही भूमिका अदा की जा सकती है। प्रस्थिति को अनेक आधारों पर निर्धारित किया जा सकता है। भूमिका केवल परम्परागत पद या सामाजिक मूल्य के आधार पर ही निर्धारित होती है। प्रस्थितियों की प्राप्ति तो व्यक्ति को जन्म से ही हो जाती है। कभी–कभी यह उसके स्वयं के प्रयासों से भी प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, मान–सम्मान प्रतिष्ठा की दृष्टि से

उच्च पदों पर नियुक्त आदि भूमिकाएँ कार्य अथवा व्यवहार होते हैं, जिन्हें व्यक्ति करता है। प्रस्थितियों द्वारा सामाजिक संरचना निर्मित होती है, जबकि भूमिकाओं द्वारा सामाजिक संरचना निर्मित नहीं होती है।

5.5 सामाजिक आदर्श

सामाजिक आदर्श (जिसे मानक, मानदण्ड, आदर्श–नियम या प्रतिमान कहते हैं) तथा सामाजिक मूल्य समाजशास्त्र की दो प्रमुख अवधारणाएँ मानी जाती हैं। इन दोनों का सम्बन्ध किसी भी समाज में व्यक्तियों के व्यवहार से है व्यवहार करने के वे नियम हैं जो समाज या सम्बन्धित समूह द्वारा स्वीकृत होते हैं तथा जिनका पालन अधिकांशत व्यक्ति करते हैं। इनका उल्लंघन करने पर उल्लंघनकर्ता को दण्ड भुगतना पड़ता है। एण्डरसन एवं पार्कर ने उचित ही लिखा है कि, "समूहों में क्रियारत व्यक्ति 'मानकों' (Standards) को विकसित कर लेते हैं जिनके अनुसार उनकी अन्तर्क्रियाएँ घटित होती हैं। ये मानक ही, जिनकी अनुरूपता में समूह और समूहों के सदस्यों को कार्य करना है, उनके आदर्श हैं। ये ही उचित और अनुचित व्यवहार को इंगित करते हैं क्योंकि ये ही समाज की आचरण सम्बन्धी प्रत्याशाएँ हैं।" उन्होंने सामाजिक आदर्शों का पूरा विवरण बताया है कि–(1) किससे, (5) किन परिस्थितियों में, (3) किसके द्वारा, (4) क्या कार्य करने या न करने की आशा की जाती है। यही नहीं, सामाजिक आदर्श यह भी स्पष्ट निर्धारित कर देते हैं कि (5) आदर्श के पालन न करने पर क्या दण्ड भुगतान होगा या पालन करने पर कौन से पुरस्कार मिलेंगे? (6) किन परिस्थितियों में आदर्श के उल्लंघन को क्षमा किया जा सकता है और किसके द्वारा दण्ड या पुरस्कार दिया जाए।

मानव समाज में दो प्रकार के तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं–एक, आदर्शात्मक व्यवस्था (जो यह बताती है कि 'क्या होना चाहिए') तथा दूसरी, तथ्य सम्बन्धी व्यवस्था (जो यह बताती है कि 'क्या है') तथा ये दोनों व्यवस्थाएँ न तो सदैव एक रूप होती हैं और न ही भिन्न। आदर्शों की व्यवस्था तथ्य सम्बन्धी व्यवस्था को निश्चित रूप देने का कार्य करती है। जीवन के वास्तविक तथ्य भी आदर्शात्मक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। आदर्श मानव–अस्तित्व के ऐसे अभिन्न अंग हैं कि एक बड़ी सीमा तक वे आन्तरिक बन जाते हैं। मानव को आन्तरिक प्रकृति में घुले–मिले ऐसे ही आदर्श–नियम व्यक्ति का पथप्रदर्शन करते हैं तथा उसके अपने बारे में व अन्य व्यक्तियों के बारे में दिए गए आन्तरिक निर्णयों को निर्धारित करते हैं। आदर्श आदत की अपेक्षा अधिक व्यक्तिगत तथा आत्मचेतना से भी गहन होते हैं। आदर्शों के पालन तथा उल्लंघन से ही व्यक्तित्व तथा समाज की बहुत सी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

5.5.1 आदर्श की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

आदर्श समाज के सदस्यों के व्यवहार के वे संस्थागत तरीके हैं जिन्हें केवल समाज द्वारा स्वीकृति ही नहीं दी गई हैं अपितु जिनका उल्लंघन भी अनुचित माना जाता है। अतः इनका पालन अधिकांश सदस्यों द्वारा किया जाता है तथा इन्हीं आदर्शों से हमें उचित–अनुचित का ज्ञान होता है। सरल शब्दों में, समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार–नियम ही सामाजिक आदर्श हैं। प्रमुख विद्वानों ने आदर्शों की परिभाषा निम्नवर्णित प्रकार से दी है–

डेविस (Davis) के अनुसार–"आदर्श नियन्त्रण है। ये वे तत्त्व हैं जिनके द्वारा मानव समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों का नियमन इस प्रकार करता है कि वे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अपनी क्रियाओं का सम्पादन करते रहें और कभी–कभी

सावयवी आवश्यकताओं के मूल्य पर भी।" शेरिफ एवं शेरिफ (Sherif and Sherif) के अनुसार–"जीवन और उसके उन्नयन के विविध कार्यों में संलग्न व्यक्तियों की अन्तर्क्रिया के बीच समूह की संरचना का जन्म होता है, व्यक्ति विभिन्न कार्य करते हैं और प्रत्येक की एक सापेक्ष परिस्थिति हो जाती है। कार्य संचालन का क्रम और उनके नियमों का स्वरूप स्थिर हो जाता है। इस प्रकार नियम, व्यवहार के तरीके तथा अनुकरणीय जीवन मूल्य आदि सामूहिक अन्तर्क्रिया के ही सह–उत्पादन हैं। नियमों, मानकों और मूल्यों के इस विशिष्ट गठन को समूह के सामाजिक आदर्शों के रूप में माना जाता है।"

बीरस्टीड (Bierstedt) के अनुसार–संस्कृति के द्वितीय दीर्घ तत्त्व के रूप में प्रतिमानों का वर्ग नियमों, सम्भावनाओं और मानव कार्य–प्रणालियों को सम्मिलित करता है। उनके शब्दों में, "एक आदर्श, संक्षेप में प्रक्रिया का मानकी प्रतिरूप है। अपने समाज के लिए स्वीकार करने योग्य कुछ करने का तरीका है।" बीरस्टीड ने सामाजिक आदर्श की व्याख्या करते हुए पुनः लिखा है कि, "यहाँ पर स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आदर्श एक सांख्यिकीय औसत नहीं है। न तो यह माध्य, माध्यिका और भूयिष्ठक ही है। इसका सम्बन्ध एक निश्चित संख्या के एक निश्चित सामाजिक परिस्थिति में औसत व्यवहार नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध तो मनुष्य के उस अपेक्षित व्यवहार से है जो उस परिस्थिति में उपयुक्त माना जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदर्श समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार करने के नियम हैं। इनका सम्बन्ध हमारे जीवन के किसी एक पक्ष से नहीं होता अपितु ये हमारे पूर्ण व्यवहार के पथप्रदर्शक होते हैं। इनके अभाव में मानव जीवन की कल्पना तक नहीं की जा सकती, क्योंकि इन्हीं के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार पर नियन्त्रण सम्भव है तथा समाज में स्थायित्व आता है।

5.5.2 आदर्शों की प्रमुख विशेषताएँ

आदर्शों में निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती हैं–

(1) किंग्सले डेविस के अनुसार आदर्श नियम मानव अस्तित्व के लिए ऐसे अभिन्न अंग हैं कि एक बड़ी सीमा तक वे आन्तरिक बन चुके हैं। समाज में रहने वाले मानव के लिए आदर्श नियम केवल बाहरी बन्धन नहीं होते जिनको या तो वह स्वीकार कर लें अथवा जिनसे वह बचने का प्रयास करें, वरन् आदर्श नियम उसके जीवन के अंग होते हैं। अतः सामाजिक नियमों का पालन बाह्य दबाव के कारण नहीं किया जाता अपितु वे मानव व्यवहार के अभिन्न अंग हैं।

(5) सामाजिक आदर्श सभी परिस्थितियों में अथवा सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू नहीं होते हैं। उदाहरणार्थ, जो नारी के लिए 'उचित' है वह सदैव पुरुषों के लिए भी उचित नहीं माना जाता है।

(3) इनसे 'दायित्व' अथवा कर्त्तव्य का बोध होता है कि अमुक व्यक्ति को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए।

(4) आदर्शों की पूर्ण प्राप्ति प्रायः असम्भव है और कभी–कभी समाज के लिए हानिकारक भी। समाज भी इनके अधिकतम पालन की आशा करता है।

(5) कभी–कभी आदर्शों के मध्य संघर्ष की स्थिति भी आ जाती है।

(6) ये लिखित (जैसे कानून) अथवा अलिखित (जैसे जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाएँ, धर्म, नैतिकता, फैशन, शिष्टाचार आदि) दोनों ही रूपों में हो सकते हैं।

(7) सामाजिक आदर्श सकारात्मक (पुरस्कार) व नकारात्मक (दण्ड) दोनों ही प्रकार की सामाजिक अभिमति द्वारा घोषित होते हैं।

(8) ये बहुत धीरे–धीरे परिवर्तित होते हैं।

(9) ये समाज की सामान्य संस्कृति के भाग होते हैं।

(10) ये एक 'समन्वित व्यवस्था' में होते हैं, इनका संगठित रूप 'संस्था' कहलाता है।

(11) इनका सामान्य सदस्यों में अन्तर्निहितीकरण अथवा इनके प्रति अनुरूपता विभिन्न व्यक्तियों में कम या अधिक हो सकती है।

(12) ये एक प्रकार के नियन्त्रण हैं। मानव समाज इन्हीं नियन्त्रणों के आधार पर अपने सदस्यों के व्यवहार पर इस प्रकार नियन्त्रण रखता है जिससे वे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में कार्य करते रहें।

(13) प्रत्येक समाज के सामाजिक आदर्श अत्यन्त उपयोगी होते हैं। इनका पालन सदस्यों द्वारा उपयोगिता के आधार पर नैतिक कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है।

(14) सामाजिक आदर्शों का सम्बन्ध समाज की वास्तविक परिस्थितियों से होता है।

5.5.3 आदर्शों का वर्गीकरण

आदर्शों का वर्गीकरण करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि इनमें अत्यधिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं। फिर भी, समाजशास्त्रियों का प्रयत्न सामाजिक आदर्शों को कुछ भागों में विभक्त करने का रहा है। आदर्शों के प्रति भावात्मक निष्ठा, मान्यता तथा उनके उल्लंघन के विरोध में समाज की नकारात्मक प्रक्रिया की तीव्रता व कठोरता की मात्रा के आधार पर किंग्सले डेविस ने आदर्शों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है–जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथागत विधि, वैधानिक कानून, संस्थाएँ, प्रथा, नैतिकता तथा धर्म परिपाटी तथा शिष्टाचार, फैशन तथा सनक। डेविस स्वीकार करते हैं कि किसी भी जनजाति, समुदाय या राष्ट्र में प्रतिमानों की संख्या इतनी अधिक होती है कि उनकी सूची कभी पूरी नहीं होगी।

जॉनसन ने आदर्शों को दो श्रेणियों में बाँटा है–एक, वे सामाजिक आदर्श जो सकारात्मक दायित्वों का निर्देश करते हैं। इस श्रेणी में भी दो प्रकार के आदर्श हैं–पहले वे, जिनका पालन करना अनिवार्य है, और दूसरे वे, जिनमें कुछ सीमा तक छूट मिल सकती है। इनमें से पहले को जॉनसन ने सम्बन्धात्मक आदर्श कहा है क्योंकि वे व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों की व्याख्या करते हैं; जैसे पति–पत्नी का एक–दूसरे के प्रति लैंगिक दृष्टि से पूर्ण वफादार रहना अनिवार्य आदर्श है; दूसरे प्रकार के आदर्शों को नियामक अथवा अनुज्ञात्मक कहा गया है; उदाहरण के लिए, पुत्र द्वारा पिता की बुढ़ापे में देखभाल करना अनिवार्य है। दूसरी प्रमुख श्रेणी निषेधात्मक आदर्शों की है जो किसी कार्य को करना वर्जित करते हैं, जैसे किसी अन्य व्यक्ति के निजी आवास में बिना अनुमति के प्रवेश वर्जित हैं।

रोबर्ट बीरस्टीड ने जनरीतियों, रूढ़ियों तथा कानूनों को किसी भी समाज के प्रमुख सामाजिक आदर्श माना है।

5.5.4 आदर्शों का आधार एवं विकास

कुछ विद्वानों के अनुसार सामाजिक आदर्शों का आधार मानव समाज की जैविक प्रकृति है और वे मूलप्रवृत्तियों (Instincts) की तरह मानव के स्वभाव में निहित होते हैं। परन्तु यह विचारधारा अधिक उपयुक्त नहीं है। वास्तव में, मानव अन्य पशुओं की भाँति स्वचालित क्रियाएँ ही नहीं करता वरन् उन पर सोचता भी है और साथ ही उनमें सुधार भी करता है। इसलिए सामाजिक आदर्शों का जन्म मनुष्य की सीखने की योग्यता तथा प्रतीकात्मक संचार (Symbolic communication) का परिणाम है। विभिन्न मानव–समूहों के मध्य होने वाले

संघर्षों में सामाजिक अस्तित्व की रक्षा के लिए इन आदर्शों को आवश्यक समझा गया होगा। अतः आदर्शात्मक व्यवस्था मानव समाज के अंग के रूप में ही विकसित हुई, क्योंकि यह मौलिक सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक है तथा इसने मानव समाज को अपना अस्तित्व बनाए रखने के योग्य बनाया है। आदर्शों की आधारशिला तथ्यात्मक परिस्थितियाँ होती हैं और इसी कारण वे प्रभावपूर्ण होते हैं। वास्तविक तथ्यों के विरुद्ध आदर्श टिक ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ, यदि यह आदर्श–प्रतिमान बना दिया जाए कि प्रत्येक पुरुष की दो पत्नियाँ होंगी, जबकि समाज में स्त्रियाँ पुरुषों के अनुपात में कम हैं, तो यह नियम अर्थहीन होगा। सामाजिक आदर्श धीरे–धीरे समाज के सदस्यों के मन में आन्तरिक हो जाते हैं और वे इनका पालन स्वचालित व स्वाभाविक रूप से करते रहते हैं।

5.5.5 आदर्शों का महत्त्व

सामाजिक जीवन में आदर्शों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। बीरस्टीड के अनुसार तो, हम बिना सामाजिक आदर्शों के सामाजिक जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकते। किंग्सले डेविस ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किए हैं। इनका सामाजिक जीवन में महत्त्व निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) ये व्यक्ति को आचरण के तरीकों से परिचित कराकर उसके व्यक्तित्व के समन्वित रूप से विकास में सहायक होते हैं।

(5) ये सामाजिक जीवन को सरल और सुचारु बनाते हैं।

(3) ये मानव व्यवहार के दृढ़ नियन्त्रक हैं।

(4) ये समाज की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होते हैं।

(5) ये समाज में समरूपता, एकता व निरन्तरता बनाए रखने में सहायक हैं।

(6) आदर्शों के द्वारा ही समाज एक संगठित संरचना प्राप्त करता है तथा इन्हीं के द्वारा सामाजिक जीवन के कार्य व्यवस्थित बनते हैं।

5.6 सामाजिक मूल्य

मूल्य समाज के प्रमुख तत्त्व हैं तथा इन्हीं मूल्यों के आधार पर हम किसी समाज की प्रगति, उन्नति, अवनति अथवा परिवर्तन की दिशा निर्धारित करते हैं। इन्हीं मूल्यों द्वारा व्यक्तियों की क्रियाएँ निर्धारित की जाती हैं तथा इससे समाज का प्रत्येक पक्ष प्रभावित होता है। सामाजिक मूल्यों के बिना न तो समाज की प्रगति की कल्पना की जा सकती है और न ही भविष्य में प्रगतिशील क्रियाओं का निर्धारण ही सम्भव है। मूल्यों के आधार पर ही हमें यह पता चलता है कि समाज में किस चीज को अच्छा अथवा बुरा समझा जाता है। अतः सामाजिक मूल्य मूल्यांकन का भी प्रमुख आधार हैं। विभिन्न समाजों की आवश्यकताएँ तथा आदर्श भिन्न–भिन्न होते हैं, अतः सामाजिक मूल्यों के मापदण्ड भी भिन्न–भिन्न होते हैं।

किसी भी समाज में सामाजिक मूल्य उन उद्देश्यों, सिद्धान्तों अथवा विचारों को कहते हैं जिनको समाज के अधिकांश सदस्य अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक समझते हैं और जिनकी रक्षा के लिए बड़े–से–बड़ा बलिदान करने को तत्पर रहते हैं। मातृभूमि, राष्ट्रगान, धर्मनिरपेक्षता, प्रजातन्त्र इत्यादि हमारे सामाजिक मूल्यों को ही व्यक्त करते हैं।

5.6.1 मूल्यों की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामाजिक मूल्य विभिन्न सामाजिक घटनाओं को मापने (मूल्यांकन करने में) का वह पैमाना है जो किसी घटना–विशेष के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। सामाजिक मूल्य प्रत्येक समाज के वातावरण और परिस्थितियों के वैभिन्न्य के कारण अलग–अलग होते हैं। ये मानव मस्तिष्क को विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करते हैं, जो सामाजिक मूल्यों के निर्माता होते हैं। प्रत्येक समाज की सांस्कृतिक विशेषताएँ, अपने समाज के सदस्यों में विशिष्ट मनोवृत्तियाँ उत्पन्न कर देती हैं जिनके आधार पर भिन्न–भिन्न विषयों और परिस्थितियों का मूल्यांकन किया जाता है।

यह सम्भव है जो 'आदर्श' और मूल्य एक समाज के हैं, वे ही दूसरे समाज में अक्षम्य अपराध माने जाते हैं। भारत के सभ्य समाजों में विवाहेतर यौन सम्बन्ध मूल्यों की दृष्टि से घातक हैं किन्तु जनजातियों के सर्वोच्च लाभदायी मूल्य हैं। अतः मूल्यों का निर्धारण समाज की विशेषता पर आधारित है। प्रमुख विद्वानों ने सामाजिक मूल्यों की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं–

एच0 एम0 जॉनसन (H. M. Johnson) के अनुसार–"मूल्य को एक धारणा या मानक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और इसके द्वारा चीजों की एक–दूसरे के साथ तुलना की जाती है, इसे स्वीकृति या अस्वीकृति प्राप्त होती है, एक–दूसरे की तुलना में उचित–अनुचित, अच्छा या बुरा, ठीक अथवा गलत माना जाता है।" रोबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) के अनुसार–"जब किसी समाज के स्त्री–पुरुष अपने ही तरह के लोगों के साथ मिलते हैं, काम करते हैं या बात करते हैं, तब मूल्य ही उनके क्रमबद्ध सामाजिक संसर्ग को सम्भव बनाते हैं।" राधाकमल मुकर्जी (Radhakamal Mukerjee) के अनुसार–"मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे इच्छाएँ तथा लक्ष्य (Desires and goals) हैं जिनका आन्तरीकरण (Internalization) समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो व्यक्तिपरक अधिमान्यताएँ (Subjective preferences), मानदण्ड (Standards) तथा अभिलाषाएँ बन जाती है।" स्कैफर एवं लाम (Schaefer and Lamm) के अनुसार–"मूल्य वे सामूहिक धारणाएँ हैं जिन्हें किसी संस्कृति विशेष में अच्छा, वांछनीय तथा उचित अथवा बुरा, अवांछनीय तथा अनुचित माना जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि मूल्य का एक सामाजिक आधार होता है और वे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त लक्ष्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। मूल्य हमारे व्यवहार का सामान्य तरीका है। मूल्यों द्वारा ही हम अच्छे या बुरे, सही या गलत में अन्तर करना सीखते हैं।

5.6.2 मूल्यों की प्रमुख विशेषताएँ

मूल्यों की प्रमुख विशेषताएँ अथवा लक्षण निम्नलिखित हैं–

(1) सामाजिक मूल्य मानसिक धारणाएँ हैं। अतः जिस प्रकार समाज अमूर्त है उसी प्रकार मूल्य भी अमूर्त होते हैं। अन्य शब्दों में, सामाजिक मूल्यों को न तो देखा जा सकता है और न ही इनको स्पर्श किया जा सकता है, इनका केवल अनुभव किया जा सकता है।

(5) सामाजिक मूल्य व्यक्ति के लक्ष्यों, साधनों व तरीकों के चयन के पैमाने हैं। हम सामाजिक मूल्यों के आधार पर ही किसी एक लक्ष्य को अन्य की अपेक्षा अधिक प्राथमिकता देते हैं।

(3) मूल्य व्यवहार करने के विस्तृत तरीके ही नहीं हैं अपितु समाज द्वारा वांछित तरीकों के प्रति व्यक्त की जाने वाली प्रतिबद्धता भी है।

(4) किसी भी समाज के मूल्य वहाँ की संस्कृति द्वारा निर्धारित होते हैं। अतः मूल्य संस्कृति की उपज हैं तथा ये संस्कृति को बनाए रखने में भी सहायक हैं।

(5) प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक मूल्यों को अपने ढंग से लेता है और उनका निर्वाचन करता है। एक संन्यासी एवं व्यपापारी के लिए 'ईमानदारी' (जोकि एक सामाजिक मूल्य है) का अर्थ भिन्न–भिन्न हो सकता है।

(6) सामाजिक मूल्य मानव व्यवहार के प्रेरक अथवा चालक के रूप में कार्य करते हैं।

(7) सामाजिक मूल्य पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं और इसीलिए इनमें परिवर्तन करना कठिन होता है। व्यक्तियों की इनके प्रति प्रतिबद्धता या वचनबद्धता के कारण भी इनमें परिवर्तन करना कठिन होता है।

(8) सामाजिक मूल्य व्यक्ति पर थोपे नहीं जाते, अपितु वह समाजीकरण द्वारा स्वयं इनका आन्तरीकरण कर लेता है और इस प्रकार वे उसके व्यक्तित्व के ही अंग बन जाते हैं।

(9) सामाजिक मूल्यों में संज्ञानात्मक, आदर्शात्मक तथा भौतिक तीनों प्रकार के तत्त्व निहित होते हैं।

(10) सामाजिक मूल्य ही नैतिकता–अनैतिकता अथवा उचित–अनुचित के मापदण्ड होते हैं।

(11) किसी भी समाज की प्रगति का मूल्यांकन सामाजिक मूल्यों के आधार पर ही किया जाता है।

5.6.3 मूल्यों के प्रकार

मूल्य विविध प्रकार के होते हैं तथा विद्वानों ने इनका वर्गीकरण विविध प्रकार से किया है। कुछ प्रमुख विद्वानों के वर्गीकरण इस प्रकार हैं–

(अ) इलियट एवं मैरिल ने अमेरिकी समाज के सन्दर्भ में तीन प्रकार के सामाजिक मूल्यों का उल्लेख किया है–

(1) देशभक्ति या राष्ट्रीयता की भावना,

(5) मानवीय स्नेह तथा

(3) आर्थिक सफलता।

(ब) राधाकमल मुकर्जी के अनुसार सामाजिक मूल्य प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक संगठन व सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं। उन्होंने चार प्रकार के मूल्यों का उल्लेख किया है–

(1) वे मूल्य जो सामाजिक संगठन व व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए समाज में समानता व सामाजिक न्याय का प्रतिपादन करते हैं।

(5) वे मूल्य जिनके आधार पर सामान्य सामाजिक जीवन के प्रतिमानों व आदर्शों का निर्धारण होता है। इन मूल्यों के अन्तर्गत एकता व उत्तरदायित्व की भावना आदि समाहित होती है।

(3) वे मूल्य जिनका सम्बन्ध आदान–प्रदान व सहयोग आदि से होता है। इन मूल्यों के आधार पर आर्थिक जीवन की उन्नति होती है व आर्थिक जीवन सन्तुलित होता है।

(4) वे मूल्य जो समाज में उच्चता लाने व नैतिकता को विकसित करने में सहायता प्रदान करते हैं।

(स) सी0 एम0 केस ने सामाजिक मूल्यों को चार भागों में विभाजित किया है–

(1) जैविक या सावयवी मूल्य–ये मूल्य व्यक्ति की शरीर रक्षा के लिए निर्धारित किए जाते हैं। जैसे 'शराब मत पीयो' सावयवी मूल्य ही है क्योंकि शराब के परिणाम खराब स्वास्थ्य, विभिन्न बीमारियाँ तथा मानसिक असमर्थता आदि हैं जिनका प्रभाव व्यक्ति के शरीर के साथ ही भावी सन्तान पर भी पड़ता है तथा समाज में भी शराब के दुष्परिणाम देखे जा सकते हैं।

(5) सांस्कृतिक मूल्य–इन मूल्यों की उत्पत्ति व्यक्ति के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में नियमितता और नियन्त्रण के लिए हुई। परम्परा, लोककला, रीति–रिवाज, धार्मिक क्रियाएँ, गायन, नृत्य सभी सांस्कृतिक मूल्य कहे जाते हैं।

(3) सामाजिक मूल्य–ये मूल्य सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं। सहयोग, दान, सेवा, निवास, भूमि, समूह इत्यादि के निर्धारित मूल्य इस कोटि में आते हैं।

(4) विशिष्ट मूल्य–इनका निर्धारण परिस्थितियों के लिए किया जाता है। अवसर–विशेष के लिए जिन मूल्यों का प्रचलन किया जाता है वे ही विशिष्ट मूल्य कहलाते हैं। जैसे–ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए भारतीय जनता एक साथ कृत संकल्प हुई थी।

5.6.4 मूल्यों का महत्त्व

सामाजिक मूल्य समाज के सदस्यों की आन्तरिक तथा मनोवैज्ञानिक भावनाओं पर आधारित होते हैं। इसीलिए समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मूल्यों का अत्यधिक महत्त्व होता है। इनके आधार पर ही सामाजिक घटनाओं एवं समस्याओं का मूल्यांकन किया जाता है। मूल्य व्यक्तिगत, सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को भी अपने अनुरूप बनाने का प्रयास करते हैं।

सामाजिक मूल्य सामाजिक एकरूपता के जनक हैं, क्योंकि मूल्य व्यवहार के प्रतिमान अथवा मानकों को प्रस्तुत करते हुए समाज के सदस्यों से अपेक्षा करते हैं कि वे अपने आचरण द्वारा मूल्यों का स्तर बनाए रखेंगे। इस तरह सामाजिक प्रतिमानों के रूप में मूल्यों का निर्धारण होता है।

सामाजिक मूल्यों से ही विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों का निर्धारण होता है तथा व्यक्ति को उचित एवं अनुचित का ज्ञान होता है। पारसन्स एवं शिल्स के अनुसार सामाजिक मूल्य सामाजिक व्यवहार के कठोर नियन्त्रक हैं। उनके अनुसार सामाजिक मूल्यों के बिना सामाजिक जीवन असम्भव है, सामाजिक व्यवस्था सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकती तथा व्यक्ति अन्य व्यक्तियों को अपनी आवश्यकताओं एवं जरूरतों को भावात्मक रूप से नहीं बता पाएँगे। संक्षेप में सामाजिक मूल्यों का निम्नलिखित महत्त्व है–

(1) मानव समाज में व्यक्ति इन मूल्यों के आधार पर समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का पालन करता है। वह उनके अनुकूल अपने व्यवहार को ढालकर अपना जीवन व्यतीत करता है।

(5) मनुष्य अपनी अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सतत प्रयत्न करता रहता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति में उसे सामाजिक मूल्यों से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है।

(3) समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। सामाजिक मूल्य सम्बन्धों के इस जाल को सन्तुलित करने व समाज के सदस्यों में सामंजस्य बनाए रखने में सहयोग प्रदान करते हैं।

(4) समाज के सदस्यों की प्रवृत्तियाँ व मनोवृत्तियाँ सामाजिक मूल्यों के आधार पर निर्धारित की जाती हैं।

(5) सामाजिक मूल्यों के आधार पर सामाजिक तथ्यों और घटनाओं; जैसे विचार, अनुभव तथा क्रियाओं आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः सामाजिक तथ्यों को समझने के लिए सामाजिक मूल्यों का ज्ञान होना जरूरी है।

(6) सामाजिक मूल्य व्यक्तियों को अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं व उद्देश्यों को वास्तविकता प्रदान करने का आधार प्रस्तुत करते हैं।

(7) सामाजिक मूल्य व्यक्ति के समाजीकरण एवं विकास में सहायक होते हैं।

(8) सामाजिक मूल्यों के आधार पर ही सामाजिक क्रियाओं एवं कार्यकलापों का ज्ञान होता है।

भारत में मूल्यों के समाजशास्त्र के विकास में लखनऊ सम्प्रदाय का भी महत्वपूर्ण स्थान है। समाजशास्त्रीय शिक्षण एवं अनुसन्धान की दृष्टि से इसे भारत का दूसरा सम्प्रदाय माना जाता है। लखनऊ विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के साथ दो प्रमुख नाम जुड़े हुए हैं–प्रो0 राधाकमल मुकर्जी तथा प्रो0 डी0 पी0 मुकर्जी। इस विभाग को पहले 'अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का लखनऊ सम्प्रदाय' कहा जाता था। इसमें पहले मानवशास्त्र विभाग भी सम्मिलित था तथा इस विषय को प्रो0 डी0 एन0 मजूमदार पढ़ाते थे। बाद में यह सम्प्रदाय तीन विभागों में विभाजित हो गया–अर्थशास्त्र विभाग, समाजशास्त्र एवं समाज कार्य विभाग तथा मानवशास्त्र विभाग। राधाकमल मुकर्जी ने समाजशास्त्र के पश्चिमी बौद्धिक वातावरण का भारतीय स्वभाव से समन्वय में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

लखनऊ सम्प्रदाय ने 'मूल्यों के समाजशास्त्र' के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। मुकर्जी के अनुसार समाजशास्त्र का कार्य मूल्यों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन करना है, पुराने मूल्यों के कार्यों का विश्लेषण करना है तथा नए मूल्यों का मूल्यांकन करना है। सामाजिक मूल्य सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे इच्छाएँ तथा लक्ष्य हैं जिनका आन्तरीकरण अनुकूलन, सीख या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो व्यक्तिपरक अधिमान्यताएँ, प्रतिमान तथा अभिलाषाएँ बन जाती हैं। मूल्यों का वर्गीकरण करके तथा मूल्यों में संस्तरण को स्पष्ट करके मुकर्जी ने इस शाखा को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

राधाकमल मुकर्जी के अनुसार, "मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे इच्छाएँ तथा लक्ष्य हैं जिनका आन्तरीकरण अनुकूलन, सीख या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो व्यक्तिपरक अधिमान्यताएँ, प्रतिमान तथा अभिलाषाएँ बन जाती हैं।" अतः मूल्यों का एक सामाजिक आधार होता है और वे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त लक्ष्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। मूल्य हमारे व्यवहार का सामान्य तरीका है। मूल्यों द्वारा ही हम अच्छे या बुरे, सही या गलत में अन्तर करना सीखते हैं।

मूल्य एक अमूर्त सामाजिक घटना है। 'मूल्य' समाज का दायाँ भाग है जिसका मिश्रण व्यक्ति के व्यक्तित्व में समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है। किसी भी समाज की संस्कृति वहाँ के मूल्य निश्चित करती है जो कालान्तर में विकसित होकर समाज में फैल जाते हैं और दृढ़ हो जाते हैं। एक निर्धारित धारणा समाज में व्याप्त हो जाती है। इनके आधार पर व्यापक मनोवृत्तियाँ मापक–यन्त्र बनकर जब समाज में उचित–अनुचित का विश्लेषण करती हैं तो उसे 'मूल्य' कहते हैं। इसीलिए मूल्य सामान्य होते हैं।

व्यक्ति के व्यक्तित्व में सामाजिक मूल्यों का समावेश सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत अर्थात् जन्म के साथ ही हो जाता है। परिवार, पड़ोस और समाज की विभिन्न संस्थाएँ; जैसे स्कूल, धर्म, क्रीड़ा आदि समाज के उत्पादन उसे अपने से सम्बन्धित सामाजिक मूल्यों से परिचित कराते हैं और उन्हें ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं। जैसे–परिवार से आरम्भ कर जीविकोपार्जन के क्षेत्र तक बचपन से व्यक्ति यही सीखता आया है कि बेईमानी गलत बात है। सदा सत्य बोलना, सब पर दया करना, बड़ों का सम्मान करना, ईश्वर में विश्वास रखना आदि सामाजिक मूल्यों के कुछ अन्य प्रमुख उदाहरण हैं। सामाजिक मूल्य सामाजिक–सांस्कृतिक

प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। मुकर्जी के अनुसार, "मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे इच्छाएँ एवं लक्ष्य हैं जिनका आन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो व्यक्तिपरक प्राथमिकताएँ, प्रतिमान तथा अभिलाषाएँ बन जाते हैं।"

5.6.5 मुकर्जी के अनुसार मूल्यों का वर्गीकरण

मुकर्जी ने मूल्यों को दो श्रेणियों–(1) साध्य–मूल्य तथा (5) साधन मूल्य में विभाजित किया है। प्रथम मूल्य वे लक्ष्य व सन्तुष्टियाँ हैं जिन्हें मनुष्य या समाज जीवन व मस्तिष्क के विकास व विस्तार की प्रक्रिया में अपने लिए स्वीकार कर लेते हैं, जिनका व्यक्ति अपने व्यवहार में आन्तरीकरण कर लेता है और जो स्वयं साध्य होते हैं। दूसरे वे मूल्य हैं जो स्वयं साध्य–मूल्यों को उन्नत करने के लिए साधन के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। प्रथम प्रकार के मूल्य अमूर्त व लोकातीत होते हैं, जबकि द्वितीय विशिष्ट एवं अस्तित्वात्मक होते हैं। उनके अनुसार प्रथम प्रकार के मूल्यों का सम्बन्ध समाज व व्यक्ति के जीवन के उच्चतम आदर्शों तथा मूल्यों से होता है; जबकि द्वितीय मूल्यों का लौकिक लक्ष्यों की पूर्ति के साधन या उपकरण के रूप में प्रयोग किया जाता है। सामान्य रूप से मनुष्य का सम्बन्ध साध्य मूल्यों की अपेक्षा साधन मूल्यों से अधिक होता है इसीलिए इनकी विवेचना सामाजिक विज्ञानों में अधिक की जाती है।

सामाजिक मूल्य समाज के सदस्यों की आन्तरिक तथा मनोवैज्ञानिक भावनाओं पर आधारित होते हैं। इसलिए समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मूल्यों का अत्यधिक महत्त्व होता है। इनके आधार पर ही सामाजिक घटनाओं एवं समस्याओं का मूल्यांकन किया जाता है। मूल्य व्यक्तिगत, सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को भी अपने अनुरूप बनाने का प्रयास करते हैं।

सामाजिक मूल्य सामाजिक एकरूपता के जनक हैं क्योंकि मूल्य व्यवहार के प्रतिमान अथवा मानकों को प्रस्तुत करते हुए समाज के सदस्यों से अपेक्षा करते हैं कि वे अपने आचरण द्वारा मूल्यों का स्तर बनाए रखेंगे। इस प्रकार, सामाजिक प्रतिमानों के रूप में मूल्यों का निर्धारण होता है।

मुकर्जी की मूल्यों की परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्य समाज द्वारा मान्य इच्छाएँ एवं लक्ष्य हैं जिनका आन्तरीकरण समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है तथा जो व्यक्तिपरक अधिमान्यताएँ, प्रतिमान तथा अभिलाषाएँ बन जाती हैं। इन्हीं मूल्यों के संगठन व संकलन द्वारा समाज का निर्माण होता है और व्यक्ति समाज में व्यवहार करते हैं। उनके अनुसार सभी मूल्य सामाजिक होते हैं तथा उनकी उत्पत्ति व्यक्तियों द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं समस्याओं के समाधान के लिए की जाती है। इन्हीं मूल्यों द्वारा समाज की मानवीय प्रवृत्तियों एवं इच्छाओं को नियन्त्रित करने एवं सामाजिक व्यवहार को नियमित करने का प्रयास करता है।

सामाजिक मूल्य सार्वभौमिक नहीं होते अपितु परिस्थिति एवं क्षेत्रीय आधार पर विकसित होने के कारण इनमें सार्वभौतिकता का अभाव पाया जाता है। अन्य शब्दों में कहा जाता है कि यद्यपि मूल्य प्रत्येक समाज में पाए जाते हैं, फिर भी इनकी प्रकृति एवं क्षेत्र सभी जगह एक समान नहीं होते। उदाहरणार्थ–भारत में हिन्दू विवाह से सम्बन्धित मूल्य, मुस्लिम विवाह के मूल्यों अथवा पश्चिमी देशों में विवाह के मूल्यों से भिन्न हैं। उनके अनुसार मूल्य–सिद्धान्त सामाजिक संगठन एवं सामाजिक संरचना से सम्बन्धित है तथा इसीलिए इसमें स्थानीयता पाई जाती है। सामाजिक मूल्य व्यक्तित्व निर्माण में विशेष योगदान देते हैं। व्यक्ति समाजीकरण के माध्यम से समाज द्वारा मान्यता प्राप्त मूल्यों का आन्तरीकरण कर लेता है तथा मूल्यों में वृद्धि के कारण ही, उसके नैतिक जीवन का विकास होता है। मूल्य ही व्यक्ति को यह बताते हैं कि उसे समाज में क्या करना है और क्या नहीं करना है। ये एक प्रकार के मानव अभियान्त्रिकी का

कार्य करते हैं। जीवन–निर्वाह से सम्बन्धित होने के कारण कुछ मूल्यों का स्थान सबसे निम्न होता है। इन्हें साधन, बाह्य या क्रियात्मक मूल्य भी कहा जाता है।

5.6.6 मुकर्जी के अनुसार मूल्यों में संस्तरण

राधाकमल मुकर्जी के अनुसार मूल्यों में भी संस्तरण पाया जाता है जो मूल्यों के स्तर से सम्बन्धित है। मूल्य के तीन स्तर हैं–(1) जैविक स्तर, (5) सामाजिक स्तर तथा (3) आध्यात्मिक स्तर। इन्हीं के अनुरूप मूल्यों को भी निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) जैविक मूल्य–ये मूल्य व्यक्ति की जैविक दशाओं (यथा स्वास्थ्य, जीवन–निर्वाह, कुशलता, सुरक्षा आदि) से सम्बन्धित होते हैं।

(2) सामाजिक मूल्य–ये मूल्य सामाजिक पक्ष से सम्बन्धित होते हैं। सम्पत्ति, प्रस्थिति, भूमिका, न्याय से सम्बन्धित मूल्य इनके उदाहरण हैं। सामाजिक संगठन व सुव्यवस्था बनाए रखने में योगदान देने के कारण इनका स्थान जैविक मूल्यों से ऊँचा होता है।

(3) आध्यात्मिक मूल्य–ये सबसे उच्च स्तर के साध्य मूल्य हैं जोकि व्यक्ति के आध्यात्मिक पक्ष से सम्बन्धित हैं। सत्य, सुन्दरता, सुसंगति, पवित्रता इत्यादि इस श्रेणी के मूल्यों के उदाहरण हैं।

आध्यात्मिक मूल्य सबसे ऊँचे होते हैं तथा इनमें आत्म–लोकातीत्व का गुण पाया जाता है। वे साध्य मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हें अन्तर्निष्ठ या लोकातीत मूल्य भी कहा जाता है। इसके बाद सामाजिक मूल्यों का स्थान आता है जिनका उद्देश्य सामाजिक संगठन व सुव्यवस्था को बनाए रखना है। वे साधन मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा इन्हें कई बार बाह्य मूल्य या क्रियात्मक मूल्य भी कहा जाता है। सबसे अन्त में जैविक मूल्यों का स्थान आता है जिनका सम्बन्ध जीवन को बनाए रखने तथा आगे बढ़ाने से हैं।

मुकर्जी ने मूल्यों के संस्तरण को निम्नलिखित सारणी द्वारा प्रस्तुत किया है–

मूल्यों के आयाम	मूल्यों के गुण	मूल्यों का संस्तरण
(1) जैविक स्वास्थ्य, उपयुक्तता, कुशलता, सुरक्षा तथा निरन्तरता	साधन मूल्य, बाह्य मूल्य, क्रियात्मक मूल्य	जीवन निर्वाह तथा अग्रगति
(2) सामाजिक सम्पत्ति , प्रस्थिति, प्रेम व अन्य	साधन मूल्य, बाह्य मूल्य, क्रियात्मक मूल्य	सामाजिक संगठन तथा सुव्यवस्था

(3) आध्यात्मिक सत्य, सौन्दर्य, सुसंगति तथा पवित्रता	साधन मूल्य, अन्तर्निष्ठ मूल्य, लोकातीत मूल्य	आत्म–लोकातीतकरण

मानव जीवन का प्रारम्भ, अस्तित्व व निरन्तरता जैविक आधार पर ही निर्भर है। अतः जैविक मूल्यों का मूल्यों के संस्तरण में सबसे पहले उल्लेख किया जाता है परन्तु जैविक जीवन समाज की सहायता के बिना सम्भव नहीं है। इसीलिए सामाजिक मूल्यों का स्थान जैविक मूल्यों के बाद आता है। जैविक व सामाजिक जीवन की वास्तविकता सत्यम्, शिवम् व सुन्दरम् की प्राप्ति में निहित है जोकि आध्यात्मिक मूल्य है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक मूल्य सर्वोच्च प्रकार के मूल्य हैं तथा सामाजिक व जैविक मूल्यों का स्थान क्रमशः उसके बाद है।

5.7 सारांश

प्रत्येक समाज संरचित होता है। संरचना से अभिप्राय समग्र की इकाइयों में पाए जाने वाले व्यवस्थित क्रम से है। समाजशास्त्र में सामाजिक संरचना शब्द का प्रयोग सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक घटनाओं अथवा सामाजिक प्रक्रियाओं के निश्चित क्रम के लिए किया जाता है। इसकी विशेषताओं से आप सामाजिक संरचना की अवधारणा को समझ गए होंगे। आपको यह भी अवगत हो गया होगा कि सामाजिक संरचना के तत्त्वों में भूमिका, प्रस्थिति तथा आदर्शों एवं मूल्यों को सम्मिलित किया जाता है। समाज द्वारा व्यक्ति को जो पद प्रदान किया जाता है, उसे उसकी प्रस्थिति कहते हैं। प्रस्थिति के अनुरूप व्यक्ति से जिस कार्य की समाज आशा रखता है, उसे भूमिका कहते हैं। दोनों परस्पर सम्बन्धित अवधारणाएँ हैं। यदि प्रस्थिति का निर्धारण बिना किसी प्रयास के जन्मजात गुणों के आधार पर होता है, तो ऐसी प्रस्थिति 'प्रदत्त प्रस्थिति' कहलाती है। इसके विपरीत, यदि व्यक्ति को कोई पद अपने गुणों, योग्यता एवं प्रयास से मिलता है, तो उसे 'अर्जित प्रस्थिति' कहते हैं। सामाजिक संरचना में आदर्शों एवं मूल्यों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। व्यक्तियों की अन्तर्क्रियाएँ इन आदर्शों एवं मूल्यों द्वारा ही निर्धारित होती हैं। आदर्श समाज के सदस्यों के व्यवहार के वे संस्थागत ढंग हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। मूल्यों से ही हमें यह पता चलता है कि कौन–सा कार्य उचित है अथवा अनुचित है। प्रत्येक समाज की संस्कृति में निरन्तरता एवं स्थायित्व इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति अपनी प्रस्थितियों के अनुरूप भूमिकाओं का निष्पादन करते हैं अथवा नहीं तथा उनका व्यवहार समाज द्वारा मान्य आदर्शों एवं मूल्यों के अनुरूप होता है अथवा नहीं।

5.8 शब्दावली

संरचना – किसी समग्र की इकाइयों के व्यवस्थित क्रम को संरचना कहते हैं।

सामाजिक संरचना – सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक घटनाओं अथवा सामाजिक प्रक्रियाओं के निश्चित क्रम को सामाजिक संरचना कहा जाता है।

भूमिका – प्रस्थिति के अनुरूप किए जाने वाले उस कार्य को भूमिका कहा जाता है, जो समाज द्वारा मान्य होता है।

प्रस्थिति – प्रस्थिति से अभिप्राय व्यक्ति के उस पद से है जो समूह, समुदाय या समाज उसे प्रदान करता है।

अर्जित प्रस्थिति – अर्जित प्रस्थिति उसे कहते हैं जो किसी व्यक्ति को उसकी अपनी योग्यता एवं गुणों के आधार पर मिलती है।

प्रदत्त प्रस्थिति – जो प्रस्थिति किसी व्यक्ति को बिना किसी प्रयास के जन्म से ही प्राप्त हो जाती है, उसे प्रदत्त प्रस्थिति कहा जाता है।

आदर्श – समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार के संस्थागत नियमों अथवा व्यवहार के ढंगों को आदर्श कहा जाता है।

मूल्य – किसी संस्कृति विशेष में पाए जाने वाली उन सामूहिक धारणाओं को मूल्य कहा जाता है जो व्यक्ति को उचित–अनुचित, सही–गलत अथवा वांछनीय–अवांछनीय से अवगत कराती हैं।

5.9 अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक संरचना किसे कहते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. सामाजिक संरचना को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रमुख तत्त्व बताइए।
3. सामाजिक भूमिका से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
4. सामाजिक प्रस्थिति किसे कहते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
5. सामाजिक प्रस्थिति को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रमुख प्रकार बताइए।
6. अर्जित एवं प्रदत्त प्रस्थिति किसे कहते हैं? दोनों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
7. प्रदत्त प्रस्थिति क्या है? इसके प्रमुख आधारों को समझाइए।
8. सामाजिक आदर्श को परिभाषित कीजिए। आदर्शों की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
9. सामाजिक मूल्य क्या हैं? सामाजिक मूल्यों की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
10. सामाजिक मूल्य की अवधारणा स्पष्ट कीजिए तथा मूल्यों का महत्त्व बताइए।
11. सामाजिक मूल्यों के बारे में राधाकमल मुकर्जी के वर्गीकरण एवं संस्तरण को संक्षेप में समझाइए।

5.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

A. R. Radcliffe-Brown (1965), **Structure and Function in Primitive Society**, Cohen and West Ltd., London.

D. P. Mukerji (1932), **Basic Concepts in Sociology**, Rupa & Company, Kolkata.

Donald Light and Jr. Suzanne Keller (1965), **Sociology**, Alfred A. Knopf, New York.

Emile Durkheim (1982), **The Rules of Sociological Method**, The Free Press, New York.

Emile Durkheim (1984), **The Division of Labour in Society**, The Free Press, New York.

G. A. Lundberg (1947), **Sociology**, Oxford University Press, New York.

G. Duncan Mitchell (1967), **Sociology : The Study of Social System**, University Tutorial Press, London.

G. R. Madan and V. P. Gupta (2006), **Social Structure of Values : Collected Works of Dr. Radhakamal Mukerjee**, Radha, New Delhi.

H. C. Lindgren (1969), **An Introduction to Social Psychology**, Wiley Eastern Pvt. Ltd., New York.

Harry M. Johnson (1960), **Sociology : A Systematic Introduction**, Routledge and Kegan Paul, London.

Herbert Spencer (1898), **The Principles of Sociology**, D. Appleton and Company, New York.

Karl Mannheim (1954), **Ideology and Utopia : An Introduction to the Sociology of Knowledge**, Routledge and Kegan Paul, London.

Kimball Young (1946), **A Handbook of Social Psychology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

Kingsley Davis (1949), **Human Society**, The Macmillan Company, New York.

M. A. Elliott and F. E. Merrill (1941), **Social Disorganization**, Harper, New York.

M. Sherif and C. W. Sherif (1947), **An Outline of Psychology**, Harper, New York.

Morris Ginsberg (1947), **Reason and Unreason in Society**, Longmans Green, New York.

Morrish Zelditch (1968) "Social Status" in David L. Sills (ed.), **International Encyc- lopaedia of Social Sciences**, Vol.15, Macmillan, New York, pp. 251-256.

Neil J. Smelser (1967), **Sociology : An Introduction**, John Wiley and Sons, New York.

R. M. MacIver and C. H. Page (1962), **Society : An Introductory Analysis**, Holt, Rinehart and Winston, New York.

Radhakamal Mukerjee (1950), **The Social Structure of Values**, Macmillan, New York

Radhakamal Mukerjee (1964), **The Dimensions of Values : A Unified Theory**, Allen & Unwin, London.

Ralf Linton (1945), **The Cultural Background of Personality**, Appleton-Century Crofts, New York.

Ralf Linton (1953), "Concept of Role and Status" in T. M. Newcomb and E. L. Heartly (eds.), **Readings in Social Psychology**, Holt, New York, pp. 367-370.

Raymond Firth (1951), **Elements of Social Organization**, Watts and Co., London.

Richard T. Schaefer and Robert P. Lamm (1995), **Sociology : A Brief Introduction**, McGraw-Hill, New York.

Robert Bierstedt (1970), **The Social Order**, McGraw-Hill, New York.

Robert K. Merton (1968), **Social Theory and Social Structure**, The Free Press, New York.

S. S. Sargent (1951), **Social Psychology at Cross Roads**, Harper, New York.

Talcott Parsons and E. A. Shils (1951), **Towards a General Theory of Action**, Harvard University Press, Cambridge, Massachusetts.

W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff (1964), **A Handbook of Sociology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

इकाई 6 समुदाय एवं समिति
Community & Association

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 समुदाय
6.2.1. समुदाय की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
6.2.2 समुदाय के आधार या अनिवार्य तत्त्व
6.2.6 सामुदायिक भावना के अनिवार्य तत्त्व

6.2.4 समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ
6.2.5 सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरण
6.2.6 ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय में अन्तर
6.2.7 समुदाय एवं समाज में अन्तर
6.3 समिति
6.3.1 समिति की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
6.3.2 समिति के अनिवार्य तत्त्व
6.3.3 समिति की प्रमुख विशेषताएँ
6.3.4 क्या परिवार तथा राज्य को समिति कहा जा सकता है?
6.3.5 हम समितियों के सदस्य होते हैं न की संस्थाओं के
6.3.6 समिति एवं समुदाय में अन्तर
6.6.7 समाज एवं समिति में अन्तर
6.4 सारांश
6.5 शब्दावली
6.6 अभ्यास प्रश्न
6.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में समुदाय एवं समिति की अवधारणाओं को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इसकी प्रकृति, प्रमुख तत्त्वों, दोनों में पाए जाने वाले अन्तर तथा इनके समाज की अवधारणा से अन्तर को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- समुदाय की अवधारणा, इसके अनिवार्य तत्त्वों तथा इसकी विशेषताओं को समझ पाएँगे;
- ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय में पाए जाने वाले अन्तर की व्याख्या कर पाएँगे;
- समुदाय एवं समाज में पाए जाने वाले अन्तर को स्पष्टतया समझ पाएँगे;
- समिति की अवधारणा, इसके अनिवार्य तत्त्वों तथा इसकी विशेषताओं को समझ पाएँगे;
- परिवार एवं राज्य को समिति समझने में होने वाले भ्रम को स्पष्ट कर पाएँगे; तथा
- समिति के समुदाय एवं राज्य से अन्तर की व्याख्या कर पाएँगे।

6.1 प्रस्तावना

व्यक्ति समुदाय में रहकर ही अपना सामान्य जीवन व्यतीत करता है। उदाहरण के लिए, हम जिस गाँव या नगर में रहते हैं वह समुदाय ही है। सामान्य शब्दों में, व्यक्तियों के किसी भी संगठन को समुदाय कह दिया जाता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। समाजशास्त्र में 'समुदाय' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। केवल व्यक्तियों का समूह ही समुदाय नहीं है। यह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जोकि किसी निश्चित भू–भाग पर निवास करते हैं। समुदाय में सदस्यों का सामान्य जीवन व्यतीत होता है। समुदाय में निवास करने वाले व्यक्तियों के अनेक उद्देश्य होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता है। अतः सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु वे अनेक समितियों का निर्माण करते हैं। एक समुदाय में अनेक समितियाँ पाई जाती हैं।

6.2 समुदाय

हम सभी किसी एक गाँव अथवा नगर में निवास करते हैं। प्रत्येक गाँव एवं नगर की निश्चित सीमाएँ होती हैं। इसीलिए गाँव एवं नगर समुदाय के दो प्रमुख उदाहरण माने जाते हैं। व्यक्ति का अपने गाँव अथवा नगर में सामान्य जीवन व्यतीत होता है तथा वह अपनी पहचान अपने गाँव या नगर के नाम से करता है। यही पहचान उनमें 'हम की भावना' का विकास करने में सहायक होती है। समुदाय को समाजशास्त्र की एक प्रमुख अवधारणा माना जाता है। इसलिए न केवल समुदाय की अवधारणा को समझना आवश्यक है, अपितु यह जानना भी अनिवार्य है कि समुदाय किस प्रकार समाज एवं समिति से भिन्न है।

6.2.1 समुदाय की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

समुदाय' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'कम्यूनिटी' (Community) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जोकि लैटिन भाषा के 'कॉम' (Com) तथा 'म्यूनिस' (Munis) शब्दों से मिलकर बना है। लैटिन में 'कॉम' शब्द का अर्थ 'एक साथ' (Together) तथा 'म्यूनिस' का अर्थ 'सेवा करना' (To serve) है, अतः 'समुदाय' का शाब्दिक अर्थ ही 'एक साथ सेवा करना' है। समुदाय व्यक्तियों का वह समूह है जिसमें उनका सामान्य जीवन व्यतीत होता है। समुदाय के निर्माण के लिए निश्चित भू–भाग तथा इसमें रहने वाले व्यक्तियों में सामुदायिक भावना होना अनिवार्य है। प्रमुख विद्वानों ने समुदाय की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं–

बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार–''समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ अंशों तक हम की भावना होती है तथा जो एक निश्चित क्षेत्र में निवास करता है।" **डेविस** (Davis) के अनुसार–"समुदाय सबसे छोटा वह क्षेत्रीय समूह है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ सकते हैं।" **ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार–"किसी सीमित क्षेत्र के अन्दर रहने वाले सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है।"

मैकाइवर एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार–"जहाँ कहीं एक छोटे या बड़े समूह के सदस्य एक साथ रहते हुए उद्देश्य विशेष में भाग न लेकर सामान्य जीवन की मौलिक दशाओं में भाग लेते हैं, उस समूह को हम समुदाय कहते है।" **ग्रीन** (Green) के अनुसार–"समुदाय संकीर्ण प्रादेशिक घेरे में रहने वाले उन व्यक्तियों का समूह है जो जीवन के सामान्य ढंग को अपनाते हैं। एक समुदाय एक स्थानीय क्षेत्रीय समूह है।" **मेन्जर** (Manzer) के अनुसार–"वह समाज, जो एक निश्चित भू–भाग में रहता है, समुदाय कहलाता है।"

अतः समुदाय की विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समुदाय व्यक्तियों का एक विशिष्ट समूह है जोकि निश्चित भौगोलिक सीमाओं में निवास करता है। इसके सदस्य सामुदायिक भावना द्वारा परस्पर संगठित रहते हैं। समुदाय में व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य की अपेक्षा अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयास करते रहते हैं।

6.2.2 समुदाय के आधार या अनिवार्य तत्त्व

मैकाइवर एवं **पेज** ने समुदाय के निम्नलिखित दो आवश्यक तत्त्व बताए हैं–

(1) स्थापनीय क्षेत्र–समुदाय के लिए एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्व निवास स्थान या स्थानीय क्षेत्र (Locality) का होना है। इसकी अनुपस्थिति में समुदाय जन्म नहीं ले सकता। क्षेत्र में निश्चितता होने के कारण ही वहाँ रहने वाले सदस्यों के मध्य घनिष्ठता, सहनशीलता तथा सामंजस्यता की भावना जाग्रत होती है।

(2) सामुदायिक भावना–सामुदायिक भावना (Community sentiments) की अनुपस्थिति में समुदाय की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सामुदायिक भावना को 'हम की भावना' (We feeling) भी कहा जाता है। इस भावना का जन्म होने का कारण एक निश्चित क्षेत्र, सदस्यों के कार्य करने का सामान्य ढंग तथा प्रत्येक सदस्य का एक–दूसरे के दुःख व सुख से परिचित हो जाना है। दूसरे की खुशी उनकी खुशी व दूसरे का दुःख उनका स्वयं का दुःख होता है। वे अनुभव करते हैं कि 'हम एक हैं'। वस्तुतः यह एक ऐसी भावना है जो समुदाय से दूर चले जाने के बाद भी बनी रहती है।

किंग्सले डेविस ने भी समुदाय के दो आधारभूत तत्त्वों का विवेचन किया है–

(1) प्रादेशिक निकटता–सदैव ही कुछ स्थानों पर आवासों के समूह पाए जाते हैं, किसी दूसरे समूह के व्यक्तियों की तुलना में व्यक्ति अपने समूह में ही अन्तर्क्रिया करना सरल समझते हैं। निकटता सम्पर्क को सुगम बनाती है। यह सुरक्षा की भावना भी प्रदान करती है तथा समूह के संगठन को सुविधाजनक बनाती है। बिना प्रादेशिक निकटता (Territorial proximity) के किसी भी समुदाय की कल्पना नहीं की जा सकती है।

(2) सामाजिक पूर्णता–डेविस के अनुसार समुदाय सबसे छोटा प्रादेशिक समूह होता है। यह सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओं का आलिंगन करता है। यह उन समस्त विस्तृत संस्थाओं, समस्त दलों तथा रुचियों को सम्मिलित करता है जो समाज का निर्माण करती हैं। व्यक्ति अपना अधिकांश सामाजिक जीवन समुदाय में ही व्यतीत करता है। इसी को सामाजिक पूर्णता (Social completeness) कहा जाता है।

6.2.3 सामुदायिक भावना के अनिवार्य तत्व

सामुदायिक भावना के प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं–

(1) हम की भावना– हम की भावना (We feeling) सामुदायिक भावना का प्रमुख अंग है। इस भावना के अन्तर्गत सदस्यों में 'मैं' की भावना नहीं रहती है। लोग मानते हैं कि यह हमारा समुदाय है, हमारी भलाई इसी में है या यह हमारा दुःख है। सोचने तथा कार्य करने में भी हम की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। इसके कारण सदस्य एक–दूसरे से अपने को बहुत समीप मानते हैं। इसी भावना के आधार पर कुछ वस्तुओं, स्थानों व व्यक्तियों को अपना माना जाता है व उनके साथ विशेष लगाव रहता है। यह भावना सामान्य भौगोलिक क्षेत्र में लम्बी अवधि तक निवास करने के कारण विकसित होती है।

(2) दायित्व की भावना–सदस्य समुदाय के कार्यों को करना अपना दायित्व समझते हैं। वे अनुभव करते हैं कि समुदाय के लिए कार्यों को करना, उनमें हिस्सा लेना, दूसरे सदस्यों की सहायता करना आदि उनका कर्त्तव्य एवं दायित्व हैं। इस प्रकार, सदस्य समुदाय के कार्यों में योगदान तथा दायित्व की भावना (Role feeling) रखते हैं।

(3) निर्भरता की भावना –समुदाय का प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य के अस्तित्व को स्वीकार करता है। वह स्वीकार करता है कि वह दूसरे सदस्यों पर निर्भर है। सदस्य का स्वयं का अस्तित्व समुदाय में पूर्णतः मिल जाता है। वह बिना समुदाय के अपना अस्तित्व नहीं समझता है। अन्य शब्दों में यह निर्भरता की भावना (Dependency feeling) ही है जिससे प्रत्येक सदस्य समुदाय पर ही निर्भर करता है।

6.2.4 समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ

समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ निम्नवर्णित हैं–

(1) व्यक्तियों का समूह–समुदाय निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों का मूर्त समूह है। समुदाय का निर्माण एक व्यक्ति से नहीं हो सकता अपितु समुदाय के लिए व्यक्तियों का समूह होना आवश्यक है।

(2) सामान्य जीवन–प्रत्येक समुदाय में रहने वाले सदस्यों का रहन–सहन, भोजन का ढंग व धर्म सभी काफी सीमा तक सामान्य होते हैं। समुदाय का कोई विशिष्ट लक्ष्य नहीं होता है। समुदाय के सदस्य अपना सामान्य जीवन समुदाय में ही व्यतीत करते हैं।

(3) सामान्य नियम–जिन्सबर्ग ने इसे समुदाय की प्रमुख विशेषता माना है। समुदाय के समस्त सदस्यों के व्यवहार सामान्य नियमों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। जब सभी व्यक्ति सामान्य नियमों के अन्तर्गत कार्य करते हैं तब उनमें समानता की भावना का विकास होता है। यह भावना समुदाय में पारस्परिक सहयोग की वृद्धि करता है।

(4) विशिष्ट नाम–प्रत्येक समुदाय का कोई न कोई नाम अवश्य होता है। इसी नाम के कारण ही सामुदायिक एकता का जन्म होता है। समुदाय का नाम ही व्यक्तियों में अपनेपन की भावना को प्रोत्साहित करता है।

(5) स्थायित्व–समुदाय चिरस्थाई होता है। इसकी अवधि व्यक्ति के जीवन से लम्बी होती है। व्यक्ति समुदाय में जन्म लेते हैं, आते हैं तथा चले जाते हैं, परन्तु इसके बावजूद समुदाय का अस्तित्व बना रहता है। इसी कारण यह स्थायी संस्था है।

(6) स्वतः जन्म–समुदाय को विचारपूर्वक किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु निर्मित नहीं किया जाता है। इसका स्वतः विकास होता है। जब कुछ लोग एक स्थान पर रहने लगते हैं तो अपनेपन की भावना का जन्म होता है। इससे समुदाय के विकास में सहायता मिलती है।

(7) निश्चित भौगोलिक क्षेत्र–समुदाय का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समुदाय के सभी सदस्य निश्चित भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत ही निवास करते हैं।

(8) अनिवार्य सदस्यता–समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करती। व्यक्ति जन्म से ही उस समुदाय का सदस्य बन जाता है जिसमें उसका जन्म हुआ है। सामान्य जीवन के कारण समुदाय से पृथक् रहकर व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती है।

(9) सामुदायिक भावना–सामुदायिक भावना ही समुदाय की नींव है। समुदाय के सदस्य अपने हितों की पूर्ति के लिए ही नहीं सोचते। वे सम्पूर्ण समुदाय का ध्यान रखते हैं। हम की भावना, दायित्व तथा निर्भरता की भावना हैं जोकि सामुदायिक भावना के तीन तत्त्व हैं, समुदाय के सभी सदस्यों को एक सूत्र में बाँधने में सहायता देते हैं।

(10) आत्म–निर्भरता–सामान्य जीवन एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण समुदाय में आत्म–निर्भरता पाई जाती है। प्राचीन समाजों में समुदाय काफी सीमा तक आत्म–निर्भर थे, परन्तु आज यह विशेषता प्रायः समाप्त हो गई है।

6.2.5 सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरण

गाँव, कस्बा, कोई नई बस्ती, नगर, राष्ट्र, जनजाति (जोकि एक निश्चित क्षेत्र में निवास करती है) इत्यादि समुदायों के प्रमुख उदाहरण हैं। इनमें समुदाय के लगभग सभी आधारभूत तत्त्व तथा विशेषताएँ पाई जाती हैं। परन्तु कुछ ऐसे समूह अथवा संगठन भी हैं जिनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ तो पाई जाती हैं परन्तु कुछ नहीं। ऐसे समूहों को सीमावर्ती समुदायों की संज्ञा दी जाती है। समुदाय की कुछ विशेषताएँ न होने के कारण इन्हें पूरी तरह से समुदाय नहीं माना जा सकता है। जाति, जेल, पड़ोस, तथा राज्य सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण हैं। ये समुदाय तो नहीं हैं परन्तु समुदाय की कुछ विशेषताओं का इनमें समावेश होने के कारण इनके समुदाय होने का भ्रम उत्पन्न होता है। आइए, अब हम ऐसे कुछ सीमावर्ती समुदायों पर विचार करें।

(1) क्या जाति एक समुदाय है?–जाति व्यवस्था भारतीय समाज में सामाजिक स्तीकरण का एक प्रमुख स्वरूप है। जाति एक अन्तर्विवाही (Endogamous) समूह है। इसकी सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती है। विभिन्नि जातियों की स्थिति एक समान नहीं होती। इनमें ऊँच–नीच का एक स्वीकृत क्रम होता है। इसमें एक जाति द्वारा दूसरी जातियों से सम्पर्क की स्थापना को स्पर्श, सहयोग, भोजन, निवास आदि के प्रतिबन्धों द्वारा बहुत सीमित कर दिया जाता है। परन्तु जाति में समुदाय की अनेक विशेषताएँ (जैसे अनिवार्य सदस्यता आदि) होने के बावजूद इसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। जाति का कोई निश्चित भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता अर्थात् एक ही जाति के सदस्य एक स्थान पर नहीं रहते अपितु अनेक क्षेत्रों व प्रदेशों में रहते हैं। उसमें सामुदायिक भावना का अभाव पाया जाता है। निश्चित भौगोलिक क्षेत्र न होने के कारण इसमें व्यक्तियों का सामान्य जीवन भी व्यतीत नहीं होता है। अतः जाति को एक समुदाय नहीं कहा जा सकता है।

(2) क्या पड़ोस एक समुदाय है?–आज पड़ोस समुदाय नहीं है। पहले पड़ोस में हम की भावना, आश्रितता की भावना इत्यादि समुदाय के लक्षण पाए जाते थे। इसीलिए कुछ विद्वान् पड़ोस को

एक समुदाय मानते थे। परन्तु आज जटिल समाजों में अथवा नगर–राज्य प्रकृति वाले समाजों में पड़ोस समुदाय नहीं है। इसमें न ही तो सामुदायिक भावना पाई जाती है, न ही सामान्य नियमों की कोई व्यवस्था ही। पड़ोस का विकास भी समुदाय की भाँति स्वतः नहीं होता है। अत्यधिक गतिशीलता के कारण पड़ोस में रहने वालों में स्थायीपन का भी अभाव पाया जाता है।

(3) क्या जेल एक समुदाय है?–जेल (बन्दीगृह) को भी समुदाय की अपेक्षा सीमावर्ती समुदाय का उदाहरण माना जाता है। जेल में समुदाय के अनेक लक्षण पाए जाते हैं। यह व्यक्तियों का समूह है। इसका एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है, इसके सदस्यों में कुछ सीमा तक हम की भावना पाई जाती है, इसमें रहने के कुछ सर्वमान्य नियम होते हैं तथा इसका एक विशिष्ट नाम होता है। **मैकाइवर** एवं **पेज** ने जेल को समुदाय कहा है क्योंकि यह (यथा विहार व आश्रम जैसे अन्य समूह) प्रादेशिक आधार पर बने होते हैं। वास्तव में ये सामाजिक जीवन के क्षेत्र ही हैं। उन्होंने जेल में कार्यकलापों के सीमित क्षेत्र के तर्क को अस्वीकार कर दिया क्योंकि मानवीय कार्यकलाप ही सदैव समुदाय की प्रकृति के अनुरूप परिणत होते हैं। परन्तु जेल को समुदाय नहीं माना जा सकता–**एक** तो इसमें कैदियों का सामान्य जीवन व्यतीत नहीं होता अर्थात् वे सामान्य जीवन में भागीदार नहीं होते हैं। **दूसरे,** उनमें सामुदायिक भावना का भी अभाव पाया जाता है। **तीसरे,** जेल का विकास भी स्वतः नहीं होता है। अतः जेल एक समुदाय नहीं है।

(4) क्या राज्य एक समुदाय है?–राज्य भी व्यक्तियों का समूह है। इसमें समुदाय के अनेक अन्य लक्षण (जेसे विशिष्ट नाम, निश्चित भौगोलिक क्षेत्र, मूर्त समूह, नियमों की व्यवस्था इत्यादि) पाए जाते हैं। परन्तु राज्य को समुदाय नहीं माना जा सकता है। समुदाय के विपरीत, राज्य के निश्चित उद्देश्य होते हैं। राज्य निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाया गया समूह है, न कि सामान्य व सर्वमान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए। साथ ही, इसका विकास स्वतः नहीं होता अपितु यह व्यक्तियों के चेतन प्रयासों का परिणाम है।

जाति, पड़ोस, जेल (बन्दीगृह) तथा राज्य की तरह राजनीतिक दल, धार्मिक संघ, क्लब, परिवार इत्यादि भी सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण हैं। इनमें भी कुछ विशेषताएँ समुदाय की पाई जाती हैं तो कुछ विशेषताएँ समिति की होती हैं। ये समुदाय तो नहीं हैं परन्तु कुछ विशेषताओं के कारण इनके समुदाय होने का भ्रम उत्पन्न होता है। गाँव, नगर, शरणार्थियों के कैम्प, जनजाति तथा खानाबदोशी झुण्ड सीमावर्ती समुदाय के प्रमुख उदाहरण माने जाते हैं क्योंकि इनमें समुदाय के आधारभूत तत्त्व एवं प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती हैं।

6.2.6 ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय में अन्तर

समुदाय को दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–ग्रामीण समुदाय तथा नगरीय समुदाय। प्रारम्भ में व्यक्ति को खेती करने का ज्ञान नहीं था। वह खाने–पीने की वस्तुएँ जुटाने के लिए इधर–उधर भटकता फिरता था। किन्तु शनैः शनैः उसने खेती करना सीखा। जहाँ उपजाऊ जमीन थी, वहीं पर कुछ लोग स्थायी रूप से बस गए और खेती करने लगे। इस प्रकार कुछ परिवारों के लोगों के एक ही भू–खण्ड पर निवास करने, सुख–दुःख में एक–दूसरे का हाथ बँटाने और मिलकर प्रकृति से संघर्ष करने में उनमें सामुदायिक भावना का विकास हुआ। इसी से ग्रामीण समुदाय की उत्पत्ति हुई। ग्रामीण समुदाय की परिभाषा देना एक कठिन कार्य है क्योंकि गाँव की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है।

गाँव अथवा ग्रामीण समुदाय का अर्थ परिवारों का वह समूह कहा जा सकता है जो एक निश्चित क्षेत्र में स्थापित होता है तथा जिसका एक विशिष्ट नाम होता है। गाँव की एक निश्चित सीमा होती है तथा गाँववासी इस सीमा के प्रति सचेत होते हैं। उन्हें यह पूरी तरह से पता होता है कि उनके गाँव की सीमा ही उसे दूसरे गाँवों से पृथक् करती है। इस सीमा में

उस गाँव के व्यक्ति निवास करते हैं, कृषि तथा इससे सम्बन्धित व्यवसाय करते हैं तथा अन्य कार्यों का सम्पादन करते हैं। सिम्स (Sims) के अनुसार, "गाँव वह नाम है, जो कि प्राचीन कृषकों की स्थापना को साधारणतः दर्शाता है।"

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से गाँवों का उद्‌भव सामाजिक संरचना में आए उन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों से हुआ जहाँ खानाबदोशी जीवन की पद्धति, जो शिकार, भोजन संकलन तथा अस्थायी कृषि पर आधारित थी, का संक्रमण स्थायी जीवन में हुआ। आर्थिक तथा प्रशासनिक शब्दों में गाँव तथा नगर बसावट के दो प्रमुख आधार जनसंख्या का घनत्व तथा कृषि–आधारित आर्थिक क्रियाओं का अनुपात है। गाँव में जनसंख्या का घनत्व कम होता है तथा अधिकांश जनसंख्या कृषि एवं इससे सम्बन्धित व्यवसायों पर आधारित होती है।

नगर अथवा नगरीय समुदाय से अभिप्राय एक ऐसी केन्द्रीयकृत बस्तियों के समूह से है जिसमें सुव्यवस्थित केन्द्रीय व्यापार क्षेत्र, प्रशासनिक इकाई, आवागमन के विकसित साधन तथा अन्य नगरीय सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। नगर की परिभाषा देना भी कठिन कार्य है। अनेक विद्वानों ने नगर की परिभाषा जनसंख्या के आकार तथा घनत्व को सामने रखकर देने का प्रयास किया है। **किंग्सले डेविस** (Kingsley Davis) इससे बिल्कुल सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि सामाजिक दृष्टि से नगर परिस्थितियों की उपज होती है। उनके अनुसार नगर ऐसा समुदाय है जिसमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विषमता पाई जाती है। यह कृत्रिमता, व्यक्तिवादिता, प्रतियोगिता एवं घनी जनसंख्या के कारण नियन्त्रण के औपचारिक साधनों द्वारा संगठित होता है। **सोमबर्ट** (Sombart) ने घनी जनसंख्या पर बल देते हुए इस सन्दर्भ में कहा है कि "नगर वह स्थान है जो इतना बड़ा है कि उसके निवासी परस्पर एक–दूसरे को नहीं पहचानते हैं।" निश्चित रूप से नगरीय समुदाय का विस्तार ग्रामीण समुदाय की तुलना में अधिक बड़े क्षेत्र पर होता है।

ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में अन्तर करना एक कठिन कार्य है, क्योंकि इन दोनों में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। वास्तव में, ग्रामीण तथा नगरीय समुदायों की विशेषताएँ आज इस प्रकार आपस में मिल गई हैं कि कुछ विद्वानों ने ग्राम–नगर सांतत्यक (Rural-urban continuum) की बात करनी शुरू कर दी है। दोनों में अन्तर करने की कठिनाइयों के बावजूद कुछ बिन्दुओं के आधार पर अन्तर किया जा सकता है। ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में निम्नलिखित प्रमुख बिन्दुओं के आधार पर अन्तर पाए जाते हैं–

(1) व्यवसाय–ग्रामीण समुदाय में व्यक्ति अधिकतर कृषि व्यवसाय पर आश्रित हैं। नगरीय समुदाय में व्यवसायों में भिन्नता होती है। नगरीय समुदायों में एक ही परिवार के सदस्य भी भिन्न–भिन्न तरह के व्यवसाय करते हैं।

(2) प्रकृति के साथ सम्बन्ध–ग्रामीण व्यक्तियों का प्रकृति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है तथा वे अपने व्यवसाय के लिए भी प्राकृतिक साधनों पर आश्रित हैं। नगरीय समुदाय में प्रकृति से पृथक्करण पाया जाता है एवं कृत्रिम वातावरण की प्रधानता पाई जाती है।

(6) समुदाय का आकार–ग्रामीण समुदायों में सदस्यों की संख्या सीमित होती है। लघुता के कारण सम्बन्ध प्रत्यक्ष तथा व्यक्तिगत होते हैं। नगरीय समुदाय का आकार बड़ा होता है तथा सभी सदस्यों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध सम्भव नहीं हैं।

(4) जनसंख्या का घनत्व–ग्रामीण समुदाय में जनसंख्या कम होती है। विस्तृत खेतों के कारण जनसंख्या का घनत्व भी बहुत कम पाया जाता है। इससे अनौपचारिकता, प्रत्यक्ष एवं सहज सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता मिलती है। नगरीय समुदाय में जनसंख्या का घनत्व

अधिक पाया जाता है। इसलिए बड़े नगरों में स्थान कम होने के कारण जनसंख्या के आवास की समस्या अधिक पाई जाती है।

(5) सजातीयता तथा विजातीयता–ग्रामीण समुदाय के सदस्यों का व्यवसाय एक–सा होता है। उनका रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज तथा जीवन–पद्धति भी एक जैसी होती है, अतः उनके विचारों में भी समानता पाई जाती है। नगरीय समुदाय में रहन–सहन में पर्याप्त अन्तर होता है। इसमें विजातीयता अधिक पाई जाती है। सदस्यों की जीवन–पद्धति एक जैसी नहीं होती है।

(6) सामाजिक स्तरीकरण तथा विभिन्नीकरण–ग्रामीण समुदाय में आयु तथा लिंग के आधार पर विभिन्नीकरण बहुत ही कम होता है। इसमें जातिगत स्तरीकरण की प्रधानता होती है। नगरीय समुदाय में विभिन्नीकरण अधिक पाया जाता है। इसमें स्तरीकरण का आधार केवल जाति न होकर वर्ग भी होता है।

(7) सामाजिक गतिशीलता–ग्रामीण समुदाय के सदस्यों में सामाजिक गतिशीलता बहुत कम पाई जाती है। व्यवसाय तथा सामाजिक जीवन एक होने के कारण गतिशीलता की अधिक सम्भावना भी नहीं रहती। व्यक्ति की प्रस्थिति प्रदत्त आधार (जैसे जाति, परिवार इत्यादि) पर निर्धारित होती है। नगरीय समुदाय में सामाजिक तथा व्यावसायिक गतिशीलता अधिक पाई जाती है। व्यक्ति अर्जित गुणों के आधार पर प्रस्थिति प्राप्त करता है।

(8) सामाजिक अन्तर्क्रियाओं की व्यवस्था–ग्रामीण समुदाय में अन्तर्क्रियाओं का क्षेत्र भी सीमित होता है। नगरीय समुदाय में व्यक्तियों में सम्पर्क अधिक होते हैं तथा अन्तर्क्रियाओं का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।

(9) प्राथमिक तथा द्वितीयक सम्बन्ध–सीमित आकार होने के कारण ग्रामीण समुदाय में प्राथमिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। सम्बन्धों में अनौपचारिकता, सहजता तथा सहयोग पाया जाता है। सम्बन्ध स्वयं साध्य हैं। ये किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित नहीं किए जाते हैं। अधिक विस्तृत क्षेत्र होने के कारण नगरीय समुदाय में द्वितीयक सम्बन्ध पाए जाते हैं। सम्बन्धों में औपचारिकता अथवा कृत्रिमता पाई जाती है।

(10) धर्म की महत्ता–ग्रामीण समुदाय में धर्म अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जीवन के प्रत्येक पहलू में धार्मिक विचारों की प्रभुता स्पष्ट देखी जा सकती है। नगरीय समुदाय में धर्म की महत्ता कम होती है। वहाँ धर्मनिरपेक्ष विचारधाराएँ अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं।

(11) सामाजिक नियन्त्रण–ग्रामीण समुदाय में परम्पराओं, प्रथाओं, जनरीतियों तथा लोकाचारों की प्रधानता पाई जाती है। सामाजिक नियन्त्रण भी इन्हीं अनौपचारिक साधनों द्वारा रखा जाता है। नगरीय समुदाय में प्रथाओं, परम्पराओं व लोकाचारों से नियन्त्रण करना सम्भव नहीं है। नगरों में औपचारिक नियन्त्रण के साधन जैसे राज्य, कानून, शिक्षा आदि अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

6.2.7 समुदाय एवं समाज में अन्तर

समाज व्यक्तियों का संकलन मात्र न होकर व्यक्तियों में पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों का जाल (व्यवस्था या ताना–बाना) है। चूँकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त हैं अतः समाज भी अमूर्त है। निश्चित भौगोलिक सीमाओं के कारण समुदाय मूर्त होता है। समुदाय तथा समाज में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं–

क्र0सं0	समुदाय	समाज

1.	समुदाय व्यक्तियों का समूह है।	समाज व्यक्तियों में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों की एक जटिल व्यवस्था है।
2.	समुदाय एक मूर्त अवधारणा है।	समाज एक अमूर्त अवधारणा है।
3.	समुदाय के लिए निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना आवश्यक है।	समाज के लिए निश्चित भू–भाग का होना आवश्यक नहीं है। यह असीम होता है।
4.	समुदाय में सहयोगी सम्बन्धों का होना आवश्यक है।	समाज में सभी प्रकार के सहयोगी तथा असहयोगी सम्बन्ध पाए जाते हैं। इसमें समानता तथा असमानता दोनों ही पाई जाती है।
5.	समुदाय के लिए सामुदायिक भावना का होना आवश्यक है।	समाज में विभिन्न हितों से सम्बन्धित अनेक समूह होते हैं। अतएव इसमें सामुदायिक भावना सम्भव नहीं है।
6.	समुदाय एक सीमित अवधारणा है। अतः एक समुदाय में समाज निहित नहीं हो सकता।	एक समाज के अन्दर कई समुदाय हो सकते हैं। समाज एक विस्तृत अवधारणा है तथा एक समाज का निर्माण अनेक समुदायों से मिलकर होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समुदाय एवं समिति दो भिन्न अवधारणाएँ हैं। सैद्धान्तिक रूप में एक समुदाय में अनेक समितियाँ हो सकती हैं, परन्तु किसी समिति में समुदाय का समावेश सम्भव नहीं है। अपवाद रूप में ऐसा भी हो सकता है कि अनेक समितियों का आधार क्षेत्र पूरे राज्य या राष्ट्र तक फैला हुआ हो। ऐसी स्थिति में इन समितियों के आधार क्षेत्र में अनेक समुदाय सम्मिलित हो सकते हैं। यही नियम अन्तर्राष्ट्रीय समितियों पर भी लागू होता है।

6.3 समिति

समाजशास्त्र की अवधारणाओं में समिति एवं संस्था भी प्रमुख हैं। समिति व्यक्तियों का एक समूह है जो कि किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति हेतु बनाया जाता है। उस उद्देश्य की पूर्ति हेतु समाज द्वारा मान्यता प्राप्त नियमों की व्यवस्था को संस्था कहते हैं। बहुत से लोग इन दोनों को समान अर्थों में प्रयोग करते हैं जो कि उचित नहीं है। ऐसा भ्रम इन दोनों शब्दों के सामान्य प्रयोग के कारण पैदा होता है। उदाहरण के लिए हम किसी भी महाविद्यालय को एक संस्था मान लेते हैं। समाजशास्त्र में जिस अर्थ में संस्था का प्रयोग होता है उस अर्थ की दृष्टि महाविद्यालय संस्था न होकर एक समिति है क्योंकि यह व्यक्तियों का एक मूर्त समूह है। यदि इसे परीक्षा पद्धति (जो कि नियमों की एक व्यवस्था है) की दृष्टि से देखें, तो इसे संस्था भी कहा जा सकता है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि कोई भी व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की

पूर्ति स्वयं अकेला ही नहीं कर सकता है। यदि एक जैसे उद्देश्यों की पूर्ति वाले मिलकर सामूहिक रूप से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करें, तो एक समिति का निर्माण होता है। इसीलिए समिति को व्यक्तियों का एक समूह अथवा संगठन माना जाता है।

6.3.1 समिति की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

समिति व्यक्तियों का समूह है। यह किसी विशेष हित या हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। परिवार, विद्यालय, व्यापार संघ, चर्च (धार्मिक संघ), राजनीतिक दल, राज्य इत्यादि समितियाँ हैं। इनका निर्माण विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ, विद्यालय का उद्देश्य शिक्षण तथा व्यावसायिक तैयारी हैं। इसी प्रकार, श्रमिक संघ का उद्देश्य नौकरी की सुरक्षा, उचित पारिश्रमिक दरें, कार्य की स्थितियाँ इत्यादि को ठीक रखना है। साहित्यकारों या पर्वतारोहियों के संगठन भी समिति के ही उदाहरण हैं।

जिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "समिति आपस में सम्बन्धित सामाजिक प्राणियों का एक समूह है, जो एक निश्चित लक्ष्य या लक्ष्यों की पूर्ति के लिए एक सामान्य संगठन का निर्माण करते हैं।" **मैकाइवर** एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार–"सामान्य हित या हितों की पूर्ति के लिए दूसरों के सहयोग के साथ सोच–विचार कर संगठित किए गए समूह को समिति कहते हैं।" **गिलिन** एवं **गिलिन** (Gillin and Gillin) के अनुसार–"समिति व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो किसी विशेष हित या हितों के लिए संगठित होता है तथा मान्यता प्राप्त या स्वीकृत विधियों और व्यवहार द्वारा कार्य करता है।" **बोगार्डस** (Bogardus) के अनुसार–"समिति प्रायः किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगों का मिल–जुलकर कार्य करना है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसमें सहयोग व संगठन पाया जाता है। इसका प्रमुख उद्देश्य किसी लक्ष्य की पूर्ति है। समिति के सदस्य अपने विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति कुछ निश्चित नियमों के अन्तर्गत सामूहिक प्रयास द्वारा करते हैं।

6.3.2 समिति के अनिवार्य तत्त्व

समिति के निम्नलिखित चार अनिवार्य तत्त्व हैं–

(1) व्यक्तियों का समूह–समिति समुदाय की ही तरह मूर्त है। यह व्यक्तियों का एक संकलन है। दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों का होना समिति के निर्माण हेतु अनिवार्य है।

(2) सामान्य उद्देश्य–समिति का दूसरा आवश्यक तत्त्व सामान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों का होना है। व्यक्ति इन्हीं सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो संगठन बनाते हैं उसे ही समिति कहा जाता है।

(3) पारस्परिक सहयोग–सहयोग समिति का तीसरा अनिवार्य तत्त्व है। इसी के आधार पर समिति का निर्माण होता है। सहयोग के बिना समिति का कोई अस्तित्व नहीं है।

(4) संगठन–समिति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन का होना भी आवश्यक है। संगठन द्वारा समिति की कार्य–प्रणाली में कुशलता आती है।

समिति के निर्माण हेतु उपर्युक्त चारों तत्त्वों का होना अनिवार्य है। वस्तुतः समितियों का निर्माण अनेक आधारों पर किया जाता है। अवधि के आधार पर समिति स्थायी (जैसे राज्य) एवं अस्थायी (जैसे बाढ़ सहायता समिति); सत्ता के आधार पर सम्प्रभु (जैसे राज्य); अर्द्ध–सम्प्रभु (जैसे विश्वविद्यालय) एवं असम्प्रभु (जैसे क्लब); कार्य के आधार पर जैविक (जैसे परिवार);

व्यावसायिक (जैसे श्रमिक संघ); मनोरंजनात्मक (जैसे संगीत क्लब) एवं परोपकारी (जैसे सेवा समिति) हो सकती हैं।

6.3.3 समिति की प्रमुख विशेषताएँ

समिति की विभिन्न परिभाषाओं से इसकी कुछ विशेषताएँ भी स्पष्ट होती हैं। इनमें से प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) मानव समूह–समिति का निर्माण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के समूह से होता है जिसका एक संगठन होता है। संगठन होने का आधार उद्देश्य या उद्देश्यों की समानता है।

(2) निश्चित उद्देश्य–समिति के जन्म के लिए निश्चित उद्देश्यों का होना आवश्यक है। यदि निश्चित उद्देश्य न हों तो व्यक्ति उनकी पूर्ति के लिए तत्पर न होंगे और न ही समिति का जन्म होगा।

(3) पारस्परिक सहयोग–समिति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक व्यवस्था का निर्माण करती है। उद्देश्य की प्राप्ति तथा व्यवस्था के लिए सहयोग होना अति आवश्यक है। चूँकि सदस्यों के समान उद्देश्य होते हैं, इस कारण उनमें सहयोग पाया जाता है।

(4) ऐच्छिक सदस्यता–प्रत्येक मनुष्य की अपनी आवश्यकताएँ हैं। जब वह अनुभव करता है कि अमुक समिति उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है तो वह उसका सदस्य बन जाता है। समिति की सदस्यता के लिए कोई बाध्यता नहीं होती है। इसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है। इसे कभी भी बदला जा सकता है।

(5) अस्थायी प्रकृति–समिति का निर्माण विशिष्ट उद्देश्यों को पूर्ति के लिए किया जाता है। जब उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाती है तो वह समिति समाप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ, गणेशोत्सव के लिए गठित समिति गणेशोत्सव समाप्त होने के बाद भंग हो जाती है।

(6) विचारपूर्वक स्थापना–समिति की स्थापना मानवीय प्रयत्नों के कारण होती है। व्यक्तियों का समूह पहले यह परामर्श करता है कि समिति उनके लिए कितनी लाभप्रद होगी। यह विचार–विमर्श करने के पश्चात् ही समिति की स्थापना की जाती है।

(7) नियमों पर आधारित–प्रत्येक समिति की प्रकृति अलग होती है। इसी कारण समितियों के नियम भी अलग–अलग होते हैं। उद्देश्यों को पाने के लिए व सदस्यों के व्यवहार में अनुरूपता (Conformity) लाने के लिए कतिपय निश्चित नियम आवश्यक हैं। नियमों के अभाव में समिति अपने लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर सकती।

(8) मूर्त संगठन–समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु एकत्र होते हैं। इस दशा में समिति को मूर्त संगठन के रूप में वर्णित किया जा सकता है। इसको किसी के भी द्वारा देखा जा सकता है।

(9) समिति साधन है, साध्य नहीं–समितियों का निर्माण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। यदि हम पढ़ने के शौकीन हैं, तो वाचनालय की सदस्यता ग्रहण कर लेते हैं। इससे हमें इच्छानुसार पुस्तकें मिलती रहती हैं। इसमें वाचनालय पुस्तकें प्राप्त करने का साधन है, साध्य नहीं; और यही समिति है। अतः हम कह सकते हैं कि समिति साधन है साध्य नहीं।

(10) सुनिश्चित संरचना–प्रत्येक समिति की एक सुनिश्चित संरचना होती है। समस्त सदस्यों की प्रस्थिति समान नहीं होती, वरन् उनकी अलग–अलग प्रस्थिति या पद होते हैं। पदों के अनुसार ही उन्हें अधिकार प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, महाविद्यालय में प्राचार्य, अध्यापक, छात्र, लिपिक इत्यादि प्रत्येक की अलग–अलग प्रस्थिति होती है तथा तदनुसार उनके अलग–अलग कार्य होते हैं।

समिति के अर्थ, परिभाषाओं एवं विशेषताओं से आप इस अवधारणा को भली–भाँति समझ गए होंगे। समिति के साथ–साथ संस्था भी मानव की आवश्यकता पूर्ति से सम्बन्धित है। इसलिए कई बार इन दोनों अवधारणाओं को एक–दूसरे के समानार्थक रूप में प्रयोग करने की भूल की जाती है। अतः समिति के अर्थ को और अधिक स्पष्ट रूप में समझने हेतु इसमें तथा संस्था में भेद जानना आवश्यक है। समिति के अर्थ से आप समझ गए होंगे कि इसका तात्पर्य मानव समूह से है और इससे सदस्यता का बोध होता है। यह मूर्त होती है तथा इसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया जाता है। समिति की प्रकृति अस्थायी होती है तथा अनेक समितियाँ अपने उद्देश्य की प्राप्ति के पश्चात् समाप्त हो जाती हैं। समिति द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समाज द्वारा मान्य जिन कार्य–प्रणालियों अथवा साधनों का प्रयोग किया जाता है, उसे हम संस्था कहते हैं। इनमें जो मूलभूत अन्तर पाया जाता है वह **मैकाइवर** एवं **पेज** के इस कथन से स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। उनके मतानुसार प्रत्येक समिति अपने विशिष्ट हित के लिए विशिष्ट संस्थाएँ रखती हैं। समिति तो व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो कि एक या अधिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित होता है, जबकि संस्थाएँ समितियों के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मान्यता प्राप्त विधियाँ, साधन या कार्य–प्रणालियाँ हैं। उदाहरण के लिए, परिवार जो कि एक समिति है तथा इसके प्रजनन के उद्देश्य की पूर्ति विवाह नामक संस्था करती है।

6.3.4 क्या परिवार तथा राज्य को समिति कहा जा सकता है?

परिवार को कुछ लोग समुदाय मानते हैं। व्यक्ति का सामान्य जीवन (जन्म से लेकर मृत्यु तक) परिवार में ही व्यतीत होता है। यह भी व्यक्तियों का एक मूर्त समूह है। इसमें स्थायित्व पाया जाता है। इसकी सदस्यता अनिवार्य है और इसके कुछ सार्वभौम उद्देश्य हैं। परन्तु परिवार समुदाय नहीं है अपितु यह एक समिति है। **मैकाइवर** एवं **पेज** के अनुसार आदिकालीन व अत्यन्त ग्रामीण समाजों में परिवार निश्चित रूप से एक समिति है। मौलिक रूप से अनुबन्धित होने वाले पक्षों के लिए परिवार उद्देश्यों की पूर्ति हेतु स्थापित एक समिति है। अतः हम कह सकते हैं कि आज परिवार निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाई गई एक समिति है। इन उद्देश्यों में यौन–इच्छाओं की पूर्ति, प्रजनन (सन्तानोत्पत्ति), बच्चों का पालन–पोषण, बच्चों को सामाजिक प्रस्थिति प्रदान करना इत्यादि प्रमुख हैं। जहाँ तक इसकी सदस्यता एवं स्थायित्व का प्रश्न है, इससे इसके समुदाय होने का भ्रम होता है। समिति में न तो स्थायित्व पाया जाता है और न ही इसकी सदस्यता अनिवार्य होती है। परिवार की सदस्यता अनिवार्य है तथा अन्य समितियों की तरह इसकी प्रकृति अस्थायी न होकर स्थायी होती है। परन्तु आज परिवार के स्थायित्व को गहरा धक्का लगा है। विवाह–विच्छेद की दर में वृद्धि हुई है तथा अनेक पुरुष व महिलाएँ अविवाहित रह कर पारिवारिक दायित्वों में नहीं बँधना चाहते हैं। परिवार यद्यपि व्यक्ति के लिए अन्य समितियों से कुछ अधिक ही है, तथापि यह निश्चित रूप से एक समिति है। वास्तव में, यह एक भिन्न प्रकार की समिति है।

राज्य को कुछ लोग समुदाय मानते हैं। इसक एक निश्चित भू–भाग होता है तथा इसकी सदस्यता भी अनिवार्य होती है। इतना ही नहीं, राज्य के पास निरपेक्ष शक्ति होती है। इसके डर से नागरिक कानून के अनुसार व्यवहार करने को बाध्य होते हैं। राज्य, सरकार के माध्यम से कानून भी बना सकता है। परन्तु राज्य एक समुदाय नहीं है। यह निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सोच–विचारकर बनाई गई एक समिति है। इसका सम्बन्ध मुख्यतः राजनीतिक जीवन

से होता है। **मैकाइवर** एवं **पेज** के अनुसार, "राज्य सामाजिक संगठन का ही एक रूप है और चर्च अथवा व्यापारिक समितियों की भाँति ही एक समिति है।" हम कह सकते हैं कि राज्य अन्य समितियों से भिन्न समिति है। इसीलिए इसे एक विशिष्ट प्रकार की महासमिति (Great association) भी कहा जाता है।

6.3.5 हम समितियों के सदस्य होते हैं न कि संस्थाओं के

समिति एवं संस्था के अर्थ, परिभाषाओं तथा अन्तर से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि हम समितियों के तो सदस्य हो सकते हैं पर संस्थाओं के नहीं। समिति तथा संस्था दो पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। समाजशास्त्र में इन दोनों को विशेष अर्थों में विभाजित किया जाता है। **मैकाइवर** एवं **पेज** ने इस सन्दर्भ में ठीक ही कहा है कि, "हम समितियों के सदस्य होते हैं, न कि संस्थाओं के।"

इस कथन का तात्पर्य यह है कि चूँकि समिति एक मानव–समूह है, अतः यह मूर्त है। इसीलिए मानव अपनी इच्छा से इसका सदस्य बन सकता है। उदाहरण के लिए, हम परिवार, विद्यालय, क्लब, राज्य इत्यादि के सदस्य हो सकते हैं। लेकिन संस्था अमूर्त है क्योंकि यह नियमों या कार्य–प्रणालियों का संकलन है। इसी कारण व्यक्ति संस्था का सदस्य नहीं बन सकता है। उदाहरण के लिए, विवाह, परीक्षा की पद्धति इत्यादि संस्थाएँ हैं। कार्य–प्रणालियाँ या नियमों की व्यवस्थाएँ होने के कारण हम संस्थओं के सदस्य नहीं हो सकते। व्यक्ति अनेक समितियों का सदस्य होता है। हम समितियों के सदस्य इसलिए हैं क्योंकि ये मूर्त होती हैं तथा संस्थाओं के इसलिए नहीं क्योंकि वे अमूर्त होती हैं। इस प्रकार **मैकाइवर** एवं **पेज** का यह कथन पूर्णतः सही है कि हम समितियों के सदस्य होते हैं पर संस्थाओं के नहीं।

6.3.6 समिति एवं समुदाय में अन्तर

समिति एवं समुदाय दो भिन्न अवधारणाएँ हैं। यद्यपि दोनों ही व्यक्तियों के मूर्त समूह हैं तथापि दोनों में पर्याप्त अन्तर है। समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो कि किसी विशेष हित या हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। समुदाय, इसके विपरीत, व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो कि एक निश्चित भू–भाग पर रहता है तथा जिसके सदस्यों में सामुदायिक भावना पाई जाती है।

समिति एवं समुदाय में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तन निम्नांकित हैं–

क्र0सं0	समिति	समुदाय
1.	समिति के लिए निश्चित भू–भाग की आवश्यकता नहीं होती है।	समुदाय के लिए निश्चित भू–भाग का होना आवश्यक है।
2.	समिति की स्थापना विचारपूर्वक की जाती है।	समुदाय का जन्म स्वतः होता है।
3.	सीमित उद्देश्य होने के कारण समिति एक छोटी इकाई है।	समुदाय सामान्य जीवन से सम्बन्धित होने के कारण एक बड़ी इकाई है।

4.	समिति के उद्देश्य पूर्व–निश्चित होते हैं।	समुदाय सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होता है।
5.	समिति की सदस्यता अनिवार्य नहीं होती है।	समुदाय की सदस्यता अनिवार्य है।
6.	व्यक्ति एक ही समय में कई समितियों का सदस्य बन सकता है।	समुदाय में ऐसा होना सम्भव नहीं है।
7.	इसकी प्रकृति अस्थायी होती है। उद्देश्य विशेष पर आधारित होने के कारण उसकी पूर्ति के पश्चात् समिति समाप्त हो जाती है।	समुदाय में उद्देश्य सामान्य होने के कारण इसकी प्रकृति स्थायी है।
8.	समिति के लिए केवल सहयोग की आवश्यकता होती है, सामुदायिक भावना की नहीं।	समुदाय के लिए सामुदायिक भावना का होना आवश्यक तत्त्व है।
9.	समितियाँ साधन होती हैं।	समुदाय स्वयं साध्य होते हैं।
10.	समिति में संगठन आवश्यक है।	समुदाय संगठित एवं विघटित दोनों रूपों में कार्य करता है।

समिति एवं समुदाय में उपर्युक्त अन्तर से स्पष्ट हो जाता है कि समिति व्यक्तियों का विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाया गया समूह है। समुदाय में, समिति के विपरीत, हमारे सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति होती है। समुदाय में हमारा सम्पूर्ण जीवन व्यतीत होता है। समिति हमारे किसी एक उद्देश्य से सम्बन्धित होती है अर्थात् इसका सम्बन्ध जीवन के किसी एक पक्ष से होता है। समिति एक संकुचित अवधारणा है, जबकि समुदाय एक बृहत् अवधारणा है। एक समुदाय के अन्तर्गत अनेक समितियाँ पाई जा सकती हैं। इस सन्दर्भ में मैकाइवर एवं पेज ने उचित लिखा है कि, "एक समिति एक समुदाय नहीं है, बल्कि समुदाय के अन्तर्गत एक संगठन है।"

6.3.7 समाज एवं समिति में अन्तर

इकाई एक में आपको समाज की अवधारणा समझाने का प्रयास किया गया था। आशा है कि आप इसके अर्थ एवं प्रकृति को समझ गए होंगे। चूँकि कई बार सामन्य बोलचाल की भाषा में समाज एवं समिति की अवधारणाएँ भ्रमपूर्वक प्रयोग में लाई जाती हैं, इसलिए इनमें भेद जानना आवश्यक हो जाता है। समाज एवं समिति दोनों अलग–अलग अवधारणाएँ हैं। समाज व्यक्तियों में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों का ताना–बाना या जाल है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं, अतः समाज भी अमूर्त है। समिति व्यक्तियों द्वारा किसी निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बनाया गया एक मूर्त संगठन है। समाज एवं समिति में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं–

क्र0सं0	समाज	समिति
1.	समाज व्यक्तियों के मध्य विद्यमान सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।	समिति सामान्य लक्ष्यों की पूर्ति हेतु निर्मित व्यक्तियों का एक समूह है।
2.	सामाजिक सम्बन्धों का जाल होने के कारण समाज एक अमूर्त अवधारणा है।	व्यक्तियों का समूह होने के कारण समिति एक मूर्त अवधारणा है।
6.	समाज की प्रकृति अधिकांशतः स्थायी होती है।	समिति पूर्णतः अस्थायी होती है।
4.	समाज में सहयोग व संघर्ष का मिश्रित प्रवाह होता है।	समिति का आधार सहयोग है। अतएव समिति में पूर्ण सहयोग पाया जाता है।
5.	समाज की सदस्यता ऐच्छिक न होकर अनिवार्य है। मनुष्य जन्म से ही किसी–न–किसी समाज का सदस्य होता है।	समिति की सदस्यता अनिवार्य न होकर ऐच्छिक होती है।
6.	समाज में संगठन व विघटन दोनों ही पाए जाते हैं।	समिति में पूर्णतः संगठन पाया जाता है।
7.	व्यक्ति एक समय में एक ही समाज का सदस्य हो सकता है।	व्यक्ति एक समय में अनेक समितियों का सदस्य हो सकता है।
8.	समाज का विकास स्वतः होता है।	समिति का निर्माण विचारपूर्वक किया जाता है।
9.	समाज में समानता तथा भिन्नता दोनों ही पाई जाती हैं।	समिति में केवल समानता ही पाई जाती है।
10.	समाज एक साध्य है।	समिति एक साधन है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज एक विस्तृत अवधारणा है। इसके विपरीत, समिति केवल कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बनाया गया एक समूह है। अतः यह समाज की तुलना में एक संकुचित अवधारणा है। एक समाज में अनेक समितियाँ विद्यमान हो सकती हैं।

6.4 सारांश

समुदाय एवं समिति समाजशास्त्र की प्रमुख अवधारणाएँ हैं। समुदाय का अर्थ निश्चित भू–भाग पर निवास करने वाले व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जिसमें उनका सामान्य जीवन व्यतीत होता है। जिस गाँव अथवा नगर में हम निवास करते हैं, वह समुदाय का ही एक उदाहरण है। समुदाय का विकास स्वतः होता है तथा इसमें स्थायित्व पाया जाता है। आप यह भी समझ गए होंगे कि समिति से अभिप्राय व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बनाया जाता है। समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है तथा इसकी प्रकृति

अस्थायी होती है। एक समुदाय के अन्तर्गत अनेक समितियाँ हो सकती हैं। समिति के उद्देश्यों की पूर्ति समाज द्वारा मान्य नियमों अथवा कार्य–प्रणालियों से होती है जिन्हें समाजशास्त्र में संस्था कहते हैं। समाज समुदाय की तुलना में एक विस्तृत अवधारणा है, जबकि समिति समुदाय से भी सीमित अवधारणा है। एक समाज में अनेक समुदाय हो सकते हैं तथा इसी भाँति एक समुदाय में अनेक समितियाँ हो सकती हैं। आप अपने गाँव अथवा नगर को सामने रखकर समुदाय की विशेषताओं को भली–भाँति समझ सकते हैं। इसी भाँति, यदि आपने स्नातक कक्षा संस्थागत छात्र/छात्रा के रूप में की है, तो सम्बन्धित महाविद्यालय में 'छात्र संघ' का गठन विशेष उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है जो कि एक समिति का उदाहरण है।

6.5 शब्दावली

समुदाय – निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों के ऐसे समूह को समुदाय कहा जाता है जिसमें उनका सामान्य जीवन व्यतीत होता है।

सामुदायिक भावना – यह 'हम' की भावना है जिसमें पारस्परिक दायित्व एवं आश्रितता की भावना भी सम्मिलित होती है।

समिति – किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति हेतु व्यक्तियों द्वारा बनाए गए समूह को समिति कहा जाता है।

मूर्त प्रकृति – मूर्त प्रकृति से अभिप्राय किसी ऐसी इकाई से है जिसे देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, समुदाय एवं समिति दोनों की प्रकृति मूर्त होती है।

ऐच्छिक सदस्यता – ऐच्छिक सदस्यता से अभिप्राय यह है कि व्यक्ति अपनी इच्छा से जब चाहे सदस्यता ग्रहण कर सकता है तथा जब चाहे सदस्यता छोड़ सकता है।

6.6 अभ्यास प्रश्न

1. समुदाय को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रमुख आधार बताइए।
2. समुदाय किसे कहते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
3. समुदाय का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय में अन्तर बताइए।
4. समुदाय क्या है? समुदाय एवं समाज में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
5. समिति किसे कहते हैं? समिति के अनिवार्य तत्त्व बताइए।
6. समिति को परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
7. समिति से आप क्या समझते हैं? समिति एवं समुदाय में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
8. समिति को परिभाषित कीजिए तथा समाज से इसका भेद स्पष्ट कीजिए।

6.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

A. W. Green (1964), **Sociology : An Analysis of Life in Modern Society**, *McGraw-Hill* Book Company, New York.

E. S. Bogardus (1964), **Sociology**, The Macmillan Company, New York.

H. C. Manzer (1896), **Practical Sociology and Social Problems**, The Macmillan Company, London.

J. L. Gillin and J. P. Gillin (1948), **Cultural Sociology**, The Macmillan Company, New York.

Kingsley Davis (1949), **Human Society**, The Macmillan Company, New York.

Morris Ginsberg (1960), **Psychology of Society**, Longmans Green,

N. L. Sims (1947), **Elements of Rural Sociology**, Lawrence Erlbaum Associates, New York.

R. M. MacIver and C. H. Page (1962), **Society : An Introductory Analysis**, Holt, Rinehart and Winston, New York.

W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff (1964), **A Handbook of Sociology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

इकाई 7: सामाजिक समूह : विशेषताएँ एवं प्रकार
Social Group: Characteristics & Types

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 सामाजिक समूह की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ
7.3 सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषताएँ
7.4 सामाजिक समूहों के प्रकार
7.5 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह
7.5.1 प्राथमिक समूह की अवधारणा का स्पष्टीकरण
7.5.2 प्राथमिक समूहों की प्रकृति या विशेषताएँ

7.5.3 प्राथमिक सम्बन्धों की प्रकृति
7.5.4 मूर्त समूह तथा प्राथमिक सम्बन्ध
7.5.5 प्राथमिक समूहों को प्राथमिक क्यों कहा जाता है?
7.5.6 प्राथमिक समूहों का महत्त्व
7.5.7 द्वितीयक समूह की अवधारणा का स्पष्टीकरण
7.5.8 द्वितीयक समूहों की प्रमुख विशेषताएँ
4.5.9 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में अन्तर
7.6 सन्दर्भ समूह
7.7 सारांश
7.8 शब्दावली
7.9 अभ्यास प्रश्न
7.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक समूह की अवधारणा को समझाने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही प्रमुख प्रकारों को स्पष्ट करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप :

- सामाजिक समूह की अवधारणा को समझ पाएँगे;
- सामाजिक समूह की प्रकृति अथवा विशेषताओं की व्याख्या कर पाएँगे;
- सामाजिक समूहों के वर्गीकरण को स्पष्टतया समझ पाएँगे;
- अन्तःसमूह एवं बाह्यसमूह के अर्थ एवं दोनों में अन्तर की चर्चा कर पाएँगे;
- प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों का ज्ञान प्राप्त कर पाएँगे; तथा
- सन्दर्भ समूह की अवधारणा की व्याख्या कर पाएँगे।

7.1 प्रस्तावना

हम सब समूहों में रहते है। परिवार, पड़ोस, क्रीड़ा समूह इत्यादि समूहों के ही उदाहरण हैं। इनका मानव व्यवहार को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। समाजशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन का अध्ययन है। सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता यह है कि मनुष्य परस्पर अन्तर्क्रिया करते हैं, संवाद करते हैं तथा सामाजिक सामूहिकता को निर्मित भी करते हैं। प्रत्येक समाज, चाहे उसका स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, में मानवीय समूह और सामूहिकताएँ विद्यमान रहती हैं। इन समूहों एवं सामूहिकता के प्रकार अलग–अलग होते हैं। अधिकांश समूहों की एक निश्चित संरचना होती है।

मनुष्य अपना जीवन अकेले न बिताकर अन्य मनुष्यों के साथ समूहों के अन्तर्गत बिताता है। इसके सर्वप्रमुख दो कारण है–**प्रथम**, वह सामाजिक प्राणी होने के कारण समूह में रहना पसन्द करता है; तथा दूसरे, उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों पर आश्रित होना पड़ता है। मनुष्य की जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह में रहना आवश्यक है, क्योंकि इनकी पूर्ति मनुष्य स्वयं

नहीं कर सकता। इसी कारण मनुष्य अनेक समूहों का सदस्य हैं। उदाहरण के लिए–हम सभी अपने परिवार, क्रीड़ा समूह, मित्र–मण्डली, जाति तथा राष्ट्र के सदस्य हैं। इस सन्दर्भ में **एडवर्ड सेपियर** (Edward Sapir) का कथन है कि समूह का निर्माण इस तथ्य पर आधारित है कि कोई न कोई स्वार्थ उस समूह के सदस्यों को एक सूत्र में बाँधे रहता है। विभिन्न प्रकार के समूहों से ही समाज का निर्माण होता है।

सामाजिक समूहों का समाजशास्त्रीय अध्ययन 20वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ है। इससे पहले अधिकांश विद्वान् समाज के उद्भव एवं विकास को समझने में ही लगे हुए थे। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सामाजिक समूहों के सदस्यों में पाए जाने वाले सम्बन्धों में तीव्र गति में परिवर्तन हुए जिसे समझने के प्रयास किए जाने लगे। **टॉनीज, दुर्खीम, मार्क्स** इत्यादि विद्वानों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। अधिकांश समूहों की एक निश्चित संरचना होती है। परिवर्तन की प्रक्रियाएँ समूहों की संरचना को भी प्रभावित करती हैं। प्रस्तुत अध्याय में सामाजिक समूह की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

7.2 सामाजिक समूह की अवधारणा का स्पष्टीकरण : अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामान्य अर्थों में समूह का अर्थ व्यक्तियों के संग्रह या समुच्चय से लगा लिया जाता है। संग्रह या समुच्चय केवल लोगों का जमावड़ा होता है जो एक समय में एक ही स्थान पर होते हैं लेकिन एक–दूसरे से कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं रखते। उदाहरणार्थ, हम खेल के मैदान, जलसे, बाजार, सिनेमा घर, रेलवे स्टेशन, हवाई अड्डे अथवा बस स्टॉप पर व्यक्तियों की भीड़ को देखते हैं, लेकिन उन्हें समूह की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसका कारण यह है कि उन व्यक्तियों में सामाजिक सम्बन्धों व चेतना का अभाव होता है। पारस्परिक चेतना व सामाजिक सम्बन्ध अन्योन्याश्रित हैं। चेतना के अभाव में परस्पर सम्बन्ध स्थापित नहीं होते। इन्हें अर्द्ध–समूह तो कहा जा सकता है, परन्तु सामाजिक समूह नहीं। अर्द्ध–समूहों में संरचना अथवा संगठन की कमी होती है तथा सदस्य समूह के अस्तित्व के प्रति अनभिज्ञ होते हैं। सामाजिक वर्गों, प्रस्थिति समूहों, आयु एवं लिंग–समूहों, भीड़ इत्यादि को अर्द्ध–समूह के उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है।

सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इन व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का होना अत्यावश्यक है। जिस समय दो या दो से अधिक व्यक्ति कतिपय सामान्य उद्देश्यों अथवा लाभों की पूर्ति हेतु परस्पर सम्बन्धों की स्थापना करते हैं और अपने व्यवहार द्वारा एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो उसे सामाजिक समूह की संज्ञा दी जा सकती है। वास्तव में, यह उन लोगों का समुच्चय है जो आपस में किसी–न–किसी तरह की अन्तर्क्रिया करते हैं और इसलिए अपने आप को एक–दूसरे से जुड़े हुआ अनुभव करते हैं।

समूह के निर्माण हेतु अन्तर्क्रिया (Interaction) तथा संचार (Communication) का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, बाजार में सामान्य दृष्टिकोण के व्यक्तियों के संग्रह को समूह नहीं कहा जा सकता है। किन्तु यदि किसी कारण से (चाहे पॉकेटमार के पकड़ने से या अन्य किसी कारण से) ये संगृहीत लोग आपस में अन्तर्क्रिया करते हैं तो उनमें सामाजिक सम्बन्धों का जन्म होता है। तब उस समय वह संग्रह समूह में परिवर्तित हो जाएगा चाहे उसकी प्रकृति अस्थायी ही क्यों न हो। इसी भाँति, महिला आन्दोलन ने महिलाओं को एक सामूहिक निकाय के रूप में संगठित कर इन्हें सामाजिक समूह के रूप में परिवर्तित किया है। इन आन्दोलनों ने महिलाओं को अपनी पहचान एक सामूहिकता और समूह के रूप में विकसित करने में सहायता दी है। एक सामाजिक वर्ग, जाति अथवा समुदाय से सम्बन्धित व्यक्ति एक

सामूहिक निकाय के रूप में संगठित होकर जब दीर्घकालीन अन्तर्क्रियाएँ करने लगते हैं तथा उनमें अपनत्व की भावना विकसित होने लगते हैं, तो वे समूह का रूप धारण कर लेते हैं।

इसी भाँति, आयु के आधार पर निर्मित समूह को सामाजिक समूह नहीं कहा जाता है। यह भी अर्द्ध–समूह का उदाहरण है। कई बार ऐसा भी होता है कि किसी माँग को लेकर किशोर आयु संगठित हो जाए। यदि शिक्षा संस्थाओं में किसी माँग को लेकर अथवा समाज में किसी महत्त्वपूर्ण भूमिका को लेकर इस प्रकार का समूह अपने सदस्यों में आपसी पहचान एवं अपनत्व की भावना का विकास कर लेता है, सदस्यों में दीर्घ एवं स्थायी अन्तर्क्रिया प्रारम्भ हो जाती है तथा उनमें अन्तर्क्रिया के प्रतिमान स्थिर होने लगते हैं तो आयु के आधार पर बना किशोर समूह एक सामाजिक समूह का रूप धारण कर लेता है।

एक सामाजिक समूह में कम–से–कम निम्न लक्षण होना अनिवार्य हैं–

(1) निरन्तरता के लिए दीर्घ एवं स्थायी अन्तर्क्रिया,

(2) इन अन्तर्क्रियाओं का स्थिर प्रतिमान,

(3) समूह एवं उसके नियमों, अनुष्ठानों एवं प्रतीकों के प्रति जागरूकता,

(7) सामान्य रुचि,

(5) सामान्य आदर्शों एवं मूल्यों को अपनाना तथा

(6) एक निश्चित संगठन या संरचना का होना।

प्रमुख विद्वानों ने सामाजिक समूह की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं–**बॉटोमोर** (Bottomore) के अनुसार–"सामाजिक समूह व्यक्तियों के उस योग को कहते हैं जिसमें (i) विभिन्न व्यक्तियों के बीच निश्चित सम्बन्ध होते हैं और (ii) प्रत्येक व्यक्ति समूह के प्रति और उसके प्रतीकों के प्रति सचेत होता है। दूसरे शब्दों में, एक सामाजिक समूह में कम से कम अल्पविकसित संरचना और संगठन (नियमों और संस्कारों सहित) तथा उसके सदस्यों में चेतना का एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है।" **मैकाइवर** एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार–"समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के संग्रह से है जो एक–दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।"

बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार–"एक सामाजिक समूह का अर्थ हम दो या अधिक व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से लगा सकते हैं जिनके ध्यान के कुछ सामान्य लक्ष्य होते हैं, जो एक–दूसरे को प्रेरणा देते हैं, जिनमें सामान्य वफादारी पाई जाती है और जो समान क्रियाओं में भाग लेते हैं।" **ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार–"जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्र होकर एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।" **गिलिन एवं गिलिन** (Gillin and Gillin) के अनुसार–"सामाजिक समूहों के विकास हेतु एक ऐसी अनिवार्य स्थिति होती है, जिसमें सम्बन्धित व्यक्तियों में अर्थपूर्ण अन्तः उत्तेजना और अर्थपूर्ण प्रत्युत्तर सम्भव हो सके एवं जिसमें उन सबका सामान्य उत्तेजकों अथवा हितों पर ध्यान टिका रहे और सामान्य चालकों, प्रेरकों व संवेगों का विकास हो सके।"

सामाजिक समूह की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक समूह हेतु दो या दो से अधिक व्यक्तियों में अन्तर्क्रिया एवं सामाजिक सम्बन्धों का होना अनिवार्य है। वस्तुतः समूह के तीन तत्त्व होते हैं–(1) दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह, (2) उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्धों एवं अन्तर्क्रियाओं का होना, (3) उनकी अन्तर्क्रियाओं का आधार सामान्य हित या उद्देश्य का होना तथा (7) एक निश्चित संगठन या संरचना का होना।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इन व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का होना अत्यावश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि जिस समय दो या दो से अधिक व्यक्ति कतिपय सामान्य उद्देश्य अथवा लाभों की पूर्ति हेतु परस्पर सम्बन्धों की स्थापना करते हैं और अपने व्यवहार द्वारा एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो उसे सामाजिक समूह की संज्ञा दी जा सकती है। वास्तव में, यह उन लोगों को समुच्चय है जो आपस में किसी न किसी तरह की अन्तर्क्रिया करते हैं और इसलिए अपने आप को एक–दूसरे से जुड़े हुआ अनुभव करते हैं।

7.3 सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषताएँ

सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) समूह व्यक्तियों का संग्रह है–समूह के लिए व्यक्तियों का होना आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं है कि समूह के सदस्यों में शारीरिक निकटता ही हो, परन्तु उनके मध्य अन्तर्क्रिया का होना आवश्यक है। इसी अन्तर्क्रिया से सामाजिक सम्बन्धों का जन्म होता है।

(2) समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है–प्रत्येक समूह की एक सामाजिक संरचना होती है। फिचर के अनुसार प्रत्येक समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है। उस संरचना में व्यक्तियों की प्रस्थिति निर्धारित होती है। प्रत्येक समूह में आयु, लिंग, जाति, व्यवसाय आदि के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। प्रत्येक सदस्य को समूह में अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित भूमिका निभानी पड़ती है।

(3) समूह में कार्यात्मक विभाजन होता है–समूह में संगठन बनाए रखने के लिए प्रत्येक सदस्य विविध कार्य करता है। उदाहरण के लिए, शिक्षण संस्था में प्रत्येक शिक्षक अलग–अलग विषय को पढ़ाते हैं तथा ज्ञान देने के लक्ष्य को पूरा करते हैं। प्रधानाचार्य की अपनी अलग भूमिका होती है और लिपिक वर्ग के सदस्य उनके लिए निर्धारित कार्यों को निष्पादित करते हैं।

(7) समूह में सामान्य स्वार्थों की भावना होती है–मनुष्य समूह का सदस्य इसलिए बनता है, क्योंकि उसके माध्यम से उसके स्वार्थों की पूर्ति होती है। सभी सदस्यों के स्वार्थ समान होते हैं। अतएव उनकी भावनाएँ भी एक–सी होती हैं। यदि सदस्यों के स्वार्थ या हित असमान होंगे तो ऐसी दशा में न सम्बन्धों में दृढ़ता रहेगी और न समूह में संगठन ही होगा।

(5) समूह विशेष की सदस्यता ऐच्छिक होती है–परिवार जैसे समूह को छोड़कर अन्य सभी समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। यह व्यक्ति की व्यक्तिगत रुचि तथा लक्ष्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है कि वह किस समूह का सदस्य बनेगा। अतः मनुष्य अपने जीवनकाल में अनेक समूहों के सम्पर्क में आता है।

(6) समूह की अपनी सत्ता होती है–समूह का आधार सामूहिक व्यवहार है। सामूहिक व्यवहार के अभाव में समूह का अस्तित्व नहीं है। व्यक्ति समूह के समक्ष अपने अस्तित्व को बहुत गौण मानता है। समूह पर उसे पूरा विश्वास तथा श्रद्धा होती है। अतः वह समूह के नियम तोड़ने से डरता है। यह भावना समूह के अस्तित्व की रक्षा करती है। इसके साथ–ही–साथ, इससे समूह को स्थायित्व तथा संगठन प्राप्त होता है।

(7) सामाजिक मानदण्ड समूह में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं–समूह अपने अस्तित्व के लिए कुछ मानदण्डों या आदर्श–नियमों की स्थापना करता है। इनके द्वारा वह अपने सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करता है। इन्हीं मानदण्डों के कारण सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी समूहों के सामान्य मानदण्ड हों तथा वे सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू हों।

(8) समूह एक मूर्त संगठन है–सामाजिक समूह समान उद्देश्यों व लक्ष्यों वाले व्यक्तियों का संकलन है क्योंकि यह व्यक्तियों का संकलन है अतएव यह मूर्त होता है।

7.4 सामाजिक समूहों के प्रकार

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समूहों का वर्गीकरण भिन्न आधारों को सामने रखकर किया है। प्रमुख समाजशास्त्रियों ने समूहों का वर्गीकरण निम्नवर्णित प्रकार से किया है–

(अ) समनर का वर्गीकरण–समनर ने समूह के सदस्यों में घनिष्ठता व सामाजिक दूरी के आधार पर समस्त समूहों को निम्नलिखित दो प्रकारों में वर्गीकृत किया है–

(1) अन्तःसमूह –जिन समूहों के साथ कोई व्यक्ति पूर्ण एकात्मकता या तादात्म्य स्थापित करता है उन्हें उसका अन्तःसमूह (In-group) कहा जाता है। अन्तःसमूह के सदस्यों के मध्य अपनत्व की भावना पाई जाती है। वे अन्तःसमूह के सुख को अपना सुख तथा दुःख को अपना दुःख मानते हैं। समूह का अस्तित्व सदस्य स्वयं का अस्तित्व मान लेते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के समूह में 'हम की भावना' (We feeling) पाई जाती है। प्रत्येक सदस्य एक–दूसरे से भावात्मक सम्बन्धों द्वारा बँधा होता है। प्रेम, स्नेह, त्याग और सहानुभूति का भाव स्पष्ट रूप से सदस्यों के मध्य दृष्टिगोचर होता है। अधिकांश व्यक्तियों के लिए परिवार अन्तःसमूह का एक चिरपरिचित उदाहरण है। अपना गाँव, जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि अन्तःसमूह के अन्य उदाहरण हैं। प्रत्येक व्यक्ति का राष्ट्र उसका अन्तःसमूह है। वह अपने देश की प्रशंसा उसकी प्रगति से प्रारम्भ करता है। इसके विपरीत देश की अवनति या बुराई से उसे दुःख होता है। ठीक इसी प्रकार पड़ोस या जिस शिक्षण संस्था का वह सदस्य है, वह व्यक्ति का अन्तःसमूह होता है। वह उस अन्तःसमूह से विशेष लगाव व स्नेह रखता है तथा ठीक वैसे ही कार्य करता है, जैसे कि समूह की इच्छा होती है। अतः अन्तःसमूह, सदस्यों की दृष्टि में उसका अपना समूह होता है। उसके साथ सदस्य अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। अन्तःसमूह प्राथमिक भी हो सकते हैं, द्वितीयक भी, वे स्थायी भी हो सकते हैं तथा अस्थायी भी।

(2) बाह्यसमूह –कोई व्यक्ति बाह्यसमूह का उल्लेख अपने अन्तःसमूह के सन्दर्भ में करता है। बाह्यसमूहों (Out-groups) के लिए वह 'वे' या 'अन्य' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। बाह्यसमूह में जो गुण पाए जाते हैं वे अन्तःसमूह से विपरीत होते हैं। इसमें इस तरह की भावना होती है व्यक्ति इसे दूसरों का समूह समझता है। इसी कारण बाह्यसमूह के प्रति सहयोग, सहानुभूति, स्नेह आदि का सर्वथा अभाव होता है। उसके स्थान पर बाह्यसमूह के प्रति दूरी या अलगाव, खिन्नता, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा, पक्षपातपूर्ण भावना रहती है। यह भावना यदा–कदा शत्रुता या वैर के रूप में भी हो सकती है। उदाहरण के लिए, हम इस पड़ोस के सदस्य हैं लेकिन, 'वो' पड़ोस बहुत भ्रष्ट और गन्दा है। वहाँ के रहने वाले जानवर से भी गए–गुजरे हैं। इसमें 'वो' समूह एक बाह्यसमूह है। शत्रु सेना, विदेशी समूह, प्रतिस्पर्द्धा करने वाले समूह आदि बाह्यसमूह के ही प्रमुख उदाहरण हैं।

अन्तःसमूह एवं बाह्यसमूह में निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं–

(i) अन्तः समूह को व्यक्ति अपना समूह मानता है अर्थात् इसके सदस्यों में अपनत्व की भावना पाई जाती है, जबकि बाह्यसमूह को व्यक्ति पराया समूह मानता है अर्थात् इसके सदस्यों के प्रति अपनत्व की भावना का अभाव पाया जाता है।

(ii) अन्तःसमूह के सदस्यों में 'हम की भावना' पाई जाती है, जबकि उनमें बाह्यसमूह के सदस्यों के प्रति विरोधपूर्ण भावनाएँ पाई जाती हैं।

(iii) अन्तःसमूह के सदस्यों में पाए जाने वाले सम्बन्ध घनिष्ठ होते हैं, जबकि बाह्यसमूह के सदस्यों के प्रति घनिष्ठता नहीं पाई जाती है।

(iv) अन्तःसमूह के सदस्य अपने समूह के दुःखों एवं सुखों को अपना दुःख एवं सुख मानते हैं, जबकि बाह्यसमूह के प्रति इस प्रकार की भावना का अभाव होता है।

(v) अन्तःसमूह के सदस्य प्रेम, स्नेह त्याग व सहानुभूति के भावों से जुड़े होते हैं, जबकि बाह्यसमूह के प्रति द्वेष, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा एवं पक्षपात के भाव पाए जाते हैं।

(vi) अन्तःसमूह के सदस्यों में अपने समूह के कल्याण के सामने व्यक्तिगत हितों की शिथिलता पाई जाती है, जबकि बाह्यसमूह के सदस्यों के प्रति सन्देह, घृणा एवं भेदभाव पाया जाता है।

(vii) अन्तःसमूह का आकार तुलनात्मक रूप में छोटा होता है, जबकि बाह्यसमूह का आकार तुलनात्मक रूप से बड़ा होता है।

(viii) अन्तःसमूह का लक्षण 'सामान्य हित' है, जबकि बाह्यसमूह का 'हितों में संघर्ष' है।

(ब) कूले का वर्गीकरण–चार्ल्स कूले ने प्राथमिक (Primary) एवं **द्वितीयक** (Secondary) समूह में भेद किया है। उनके अनुसार, ""प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषता आमने–सामने का घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग है। इस प्रकार के समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक होते हैं और वह भी मुख्यतः इस अर्थ में कि वे व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव तथा आदर्शों के निर्माण में मूलभूत होते हैं।"

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों के तीन प्रमुख उदाहरण दिए हैं–(1) परिवार (Family), (2) क्रीड़ा समूह (Play group), तथा (3) पड़ोस (Neighbourhood)। उन्होंने समूह का जो दूसरा विभाजन किया उसे द्वितीयक समूह कहते हैं। कूले के अनुसार द्वितीयक समूह ऐसे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता का पूर्णतः अभाव पाया जाता है। इनमें सामान्यतः उन विशेषताओं का अभाव होता है जो कि अधिकांशतः प्राथमिक समूहों में पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए, कॉरपोरेशन, श्रोतागण, क्लब राष्ट्र, चर्च, व्यावसायिक संघ आदि द्वितीयक समूह ही हैं।

7.5 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह

सामाजिक समूहों के वर्गीकरण में सर्वाधिक मान्यता कूले के वर्गीकरण को मिली है जिन्होंने इसे प्राथमिक एवं द्वितीय समूहों में विभाजित किया है। अतः इन दोनों प्रकार के समूहों को विस्तार से समझ लेना अनिवार्य है।

7.5.1 प्राथमिक समूह की अवधारणा का स्पष्टीकरण

चार्ल्स कूले ने 1909 ई0 में अपनी कृति 'सामाजिक संगठन' (Social Organization) में प्राथमिक समूह की अवधारणा का प्रयोग किया। उन्होंने अपनी दूसरी कृति 'प्रारम्भिक समाजशास्त्र' (Introductory Sociology) में द्वितीयक समूह का उल्लेख किया है। कूले की प्राथमिक समूह की अवधारणा; टॉनीज द्वारा प्रतिपादित गेमाइनशाफ्ट (Gemeinschaft) तथा गेसेलशाफ्ट (Gesellschaft) की अवधारणा के बहुत निकट है।

मानव के जीवन में स्नेह, प्रेम, सहानुभूति आदि भाव महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन भावों के विकास में प्राथमिक समूह की मुख्य भूमिका है। ऐसे गुणों के कारण समाज के संगठन

को स्थायित्व प्राप्त होता है। मानव जब जन्म लेता है तो उसका रूप पूर्णतः जैविक होता है। सर्वप्रथम वह परिवार के सम्पर्क में आता है तथा परिवार उसे सामाजिक प्राणी बनाता है। चूँकि परिवार मनुष्य के जीवन में प्रथम या प्राथमिक है, इसलिए इसे प्राथमिक समूह कहा जाता है। प्राथमिक समूह से अभिप्राय उन समूहों से है जिनमें प्रत्यक्ष, अनौपचारिक, घनिष्ठ एवं प्राथमिक सम्बन्ध पाए जाते हैं।

चार्ल्स कूले के शब्दों में, ''प्राथमिक समूहों में मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषता आमने–सामने का घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग हैं। इस प्रकार के समूह अनेक अर्थों में 'प्राथमिक होते हैं और वह भी मुख्यतः इस अर्थ में कि व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव व आदर्शों के निर्माण में वे मूलभूत होते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से इन घनिष्ठ सम्बन्धों का परिणाम सभी व्यक्तियों का एक सामान्य सम्पूर्णता में इस प्रकार मिल जाना है कि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक ही व्यक्ति के विचार और उद्देश्य सम्पूर्ण समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाते हैं। इस सम्पूर्णता में इस प्रकार की सहानुभूति व पारस्परिक एकरूपता की भावना पाई जाती है, जिनके लिए 'हम' एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।''

कूले की परिभाषा प्राथमिक समूह की मुख्य विशेषताओं का बोध कराती है। उन्होंने प्राथमिक समूह को एक ऐसा समूह माना है जिसके सदस्यों के मध्य आमने–सामने का सम्बन्ध होता है। आमने–सामने के सम्बन्धों के कारण सदस्य परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धों में बँधे होते हैं। ये समूह मनुष्य के सामाजिक स्वभाव बनाने में तथा उसके जीवन में आदर्शों का निर्माण करने में भी प्राथमिक होते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार को ही लिया जाए, जिसे कूले ने प्रथम प्राथमिक समूह माना है। परिवार के सदस्यों में आमने–सामने के सम्बन्ध पाए जाते हैं। इसके कारण सभी सदस्य एक–दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धों में बँधे रहते हैं। वे एक–दूसरे की सहायता या सहयोग भी करते हैं। परिवार समाजीकरण करने वाला सर्वप्रथम समूह होता है। इसी से व्यक्ति भाषा, खाने–पीने के ढंग, आचार–विचार सीखता है। अन्य शब्दों में, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का निर्माण प्राथमिक समूह ही करते हैं।

प्राथमिक सम्बन्धों में घनिष्ठता होने के कारण सदस्यों का व्यक्तित्व समूह के व्यक्तित्व में मिल जाता है। इससे सम्पूर्ण रूप से 'हम' की भावना का जन्म होता है। 'हम' की भावना एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो यह दर्शाती है कि समूह के प्रति सदस्यों में कितनी निष्ठा, लगाव और सहानुभूति है। इसलिए इस समूह का सुख–दुःख उनका अपना सुख–दुःख बन जाता है।

कूले ने तीन महत्त्वपूर्ण प्राथमिक समूहों का उल्लेख किया है–परिवार, खेल–साथियों का समूह या क्रीड़ा समूह तथा पड़ोस। इन्हें प्राथमिक मानने का कारण इनका सभी युगों में तथा सभी समाजों में पाया जाना है। ये समूह मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में आधारभूत तथा प्राथमिक योगदान प्रदान करते हैं। ये समूह व्यक्ति (जो जैविक प्राणी होता है) में सामाजिक गुणों को भरने (सामाजिक बनाने) में भी प्राथमिक होते हैं।

किंग्सले डेविस ने कूले की प्राथमिक समूह की परिभाषा की समीक्षा करते हुए हमारा ध्यान दो बातों की ओर दिलाया है–**प्रथम**, कूले ने वास्तविक समूहों (जैसे परिवार, क्रीड़ा समूह, पड़ोस आदि) को प्राथमिक समूह कहा है तथा **द्वितीय**, कूले ने एक ओर तो "आमने–सामने" की समिति" वाक्यांश का प्रयोग किया है और दूसरी ओर सम्बन्धों के कुछ विशिष्ट गुणों; जैसे सहानुभूति तथा पारस्परिक तादात्म्य पर बल दिया है। **डेविस** के अनुसार इन दोनों से प्राथमिक समूह के बारे में कुछ भ्रान्ति उत्पन्न होती है। ये दोनों बातें कुछ अंशों में प्रत्येक समूह में पाई जाती हैं। इतना ही नहीं, अप्रत्यक्ष सम्बन्ध (जैसे पत्र व्यवहार द्वारा दो व्यक्तियों में मित्रता) तथा मित्रतापूर्वक एवं घनिष्ठ प्रत्यक्ष सम्बन्ध (जैसे वेश्यावृत्ति–ग्राहक या सैनिकों का अभिवादन) भी औपचारिक एवं अवैयक्तिक प्रकृति के हो सकते हैं।

7.5.2 प्राथमिक समूहों की प्रकृति या विशेषताएँ

डेविस के अनुसार प्राथमिक समूहों की प्रकृति को तीन पहलुओं के सन्दर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है। ये पहलू निम्नलिखित हैं–

प्राथमिक समूहों की बाह्य विशेषताएँ या भौतिक दशाएँ

किंग्सले डेविस ने निम्नलिखित तीन प्रमुख भौतिक दशाओं को प्राथमिक समूह के लिए अनिवार्य माना है–

(1) शारीरिक समीपता–प्राथमिक समूहों के लिए शारीरिक समीपता (Physical proximity) का होना आवश्यक है। जिसे कूले ने आमने–सामने का सम्बन्ध कहा है उसी के लिए किंग्सले डेविस 'शारीरिक समीपता' शब्द का प्रयोग करते हैं। पारस्परिक घनिष्ठता के लिए यह आवश्यक है कि सदस्य एक–दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जाने। परस्पर जानने से एक–दूसरे के विचारों से परिचित होने का अवसर मिलता है। इससे एक–दूसरे की भावनाओं को समझा जा सकता है तथा 'हम की भावना' का विकास होता है।

(2) सीमित आकार–प्राथमिक समूह सीमित आकार (Limited size) के होते हैं अर्थात् यह लघु होते हैं। सदस्यों की कम संख्या के कारण ही सदस्यों में घनिष्ठता होती है। डेविस का कथन है कि प्राथमिक समूह को आकार में छोटा होना ही चाहिए, क्योंकि यह असम्भव है कि एक ही समय में बहुत से व्यक्तियों से बुद्धिमत्तापूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। **फेयरचाइल्ड** का विचार है कि प्राथमिक समूह में तीन–चार से लेकर पचास–साठ व्यक्ति तक पाए जा सकते हैं।

(3) सम्बन्धों की लम्बी अवधि–सम्बन्धों की घनिष्ठता पर्याप्त रूप से उसकी अवधि पर निर्भर करती है। सम्बन्धों की अवधि जितनी लम्बी होती है, सम्बन्ध उतने ही घनिष्ठ होते हैं। प्राथमिक समूह में स्थिरता पायी जाती है। इसके दो मुख्य कारण हैं–**प्रथम,** यह कि सभी सदस्य एक–दूसरे को भली–भाँति जानते हैं, जिससे सम्बन्ध घनिष्ठ बने रहते हैं। घनिष्ठ सम्बन्धों के कारण समूह में स्थिरता रहती है तथा **द्वितीय,** यह कि प्राथमिक समूह के लक्ष्य सामान्य होते हैं। इसके अतिरिक्त सम्बन्धों में निरन्तरता (लम्बी अवधि), सदस्यों की एकता तथा आत्मीयता के कारण अन्य समूहों से प्राथमिक समूह अधिक स्थिर होता है। सम्बन्धों की लम्बी अवधि (Longer duration of relations) को प्राथमिक समूहों की प्रमुख विशेषता माना जाता है।

7.5.3 प्राथमिक सम्बन्धों की प्रकृति

प्राथमिक समूहों के लिए बाह्य विशेषताओं के साथ–साथ आन्तरिक या मानसिक विशेषताएँ भी महत्त्व रखती हैं। आन्तरिक विशेषताओं के अन्तर्गत सदस्यों में पाए जाने वाले सम्बन्ध होते हैं। **डेविस** ने प्राथमिक सम्बन्धों की पाँच प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं। ये निम्नलिखित हैं–

(1) लक्ष्यों में सादृश्यता (Indentity of ends) **होती है**–प्राथमिक समूह के सदस्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। इस घनिष्ठता का मुख्य आधार है सदस्यों के लक्ष्यों या उद्देश्यों में समानता। प्रत्येक सदस्य यह प्रत्यन करता है कि अपने लक्ष्यों या हितों को पूरा करने हेतु किसी दूसरे के हितों का हनन या अवहेलना न करे।

(2) सम्बन्ध स्वयं साध्य (End in itself) **होता है**–प्राथमिक समूह में जो सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं, उनमें किसी विशेष उद्देश्य को प्राप्त करने की भावना निहित नहीं होती।

किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्राथमिक समूह में सम्बन्ध स्थापित नहीं किए जाते हैं, अपितु सम्बन्ध ही अन्तिम लक्ष्य होता है।

(3) सम्बन्ध व्यक्तिगत (Personal) **होता है**–प्राथमिक समूहों में सदस्य एक–दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं। इसी कारण, सम्बन्धों में आडम्बर या दिखावा नहीं होता और न ही इनका हस्तान्तरण किया जा सकता है। सम्बन्ध अवैयक्तिक तथा औपचारिक नहीं होते वरन् वैयक्तिक एवं घनिष्ठ होते हैं।

(7) सम्बन्ध सर्वांगीण (संयुक्त) (Inclusive) **होता है**–प्राथमिक समूह के कार्य में हर एक सदस्य सम्पूर्ण हृदय तथा इच्छा से भाग लेता है। प्रत्येक सदस्य एक–दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानते तथा पहचानते हैं। अतएव एक सदस्य दूसरे सदस्य के प्रति जागरूक होता है। सभी सदस्य आपस में मिलकर लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए प्राथमिक समूहों में पाए जाने वाले सम्बन्ध सर्वांगीण होते हैं। अन्य शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के जीवन की सम्पूर्ण दशाओं को जानता है।

(5) सम्बन्ध स्वजात (Spontaneous) **होता है**–प्राथमिक समूहों में सम्बन्धों का विकास स्वतः होता है। प्रत्येक सदस्य के साथ दूसरे सदस्य का जो सम्बन्ध होता है उसका आधार है स्वयं की इच्छा। यह सम्बन्ध किसी प्रकार के दबाव, प्रलोभन या शर्त द्वारा स्थापित नहीं होता है। व्यक्ति अपनी प्रसन्नता व इच्छा से समूह के लिए या सदस्यों के लिए अपना सब–कुछ त्याग करने के लिए तैयार रहता है।

7.5.4 मूर्त समूह तथा प्राथमिक सम्बन्ध

किंग्सले डेविस का कहना है कि प्राथमिक समूहों की जिन बाहरी अथवा भौतिक दशाओं तथा प्राथमिक सम्बन्धों के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, वे सभी अनिवार्य रूप से मूर्त रूप में विद्यमान नहीं होते। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि डेविस ने प्राथमिक समूहों की विवेचना आदर्श–प्ररूप (Ideal-type) के रूप में की है। अतः यह अनिवार्य नहीं है कि सभी विशेषताएँ वास्तविक समूहों में पाई ही जाएँ। कई बार लघु समूहों में भी प्रेम एवं घनिष्ठता के स्थान पर घृणा एवं संघर्ष जैसी विशेषताएँ पाई जाती हैं। वास्तव में, प्राथमिक सम्बन्ध केवल अन्तिम लक्ष्य होते हैं जिनकी ओर आगे बढ़ने के लिए कुछ वास्तविक प्रकार की अन्तर्क्रियाएँ तो होती हैं लेकिन उन लक्ष्यों तक हम पहुँच नहीं पाते।

7.5.5 प्राथमिक समूहों को प्राथमिक क्यों कहा जाता है?

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों के तीन प्रमुख उदाहरण दिए हैं–(1) परिवार, (2) पड़ोस तथा (3) क्रीड़ा समूह। **कूले** ने इन प्राथमिक समूहों को प्राथमिक क्यों कहा है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर हम अनेक दृष्टिकोणों को सामने रखकर दे सकते हैं। प्राथमिक समूहों को निम्नलिखित कारणों से प्राथमिक कहा जाता है–

(1) प्राथमिक समूह समय की दृष्टि से प्राथमिक हैं–प्राथमिक समूहों को समय की दृष्टि से प्राथमिक कहा गया है। सर्वप्रथम बच्चा इन्हीं समूहों के सम्पर्क में आता है। उदाहरण के लिए, सर्वप्रथम बच्चा परिवार, क्रीड़ा समूह या मित्र–मिण्डली तथा पड़ोस के सम्पर्क में ही आता है। अन्य समूहों से उसका सम्पर्क बाद में होता है।

(2) प्राथमिक समूह महत्त्व की दृष्टि से प्राथमिक हैं–प्राथमिक समूहों का व्यक्तियों के व्यक्तित्व निर्माण में विशेष महत्त्व होने के कारण भी इन्हें प्राथमिक कहा गया है। ये सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के लिए आदर्श स्वरूप होते हैं।

(3) प्राथमिक समूह मौलिक मानव संघों का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से प्राथमिक हैं–मौलिक मानव संघों का प्रतिनिधि होने के कारण भी प्राथमिक समूहों को प्राथमिक माना गया है। **किम्बल यंग** के अनुसार प्राथमिक समूह सम्भवतः उतने ही प्राचीन हैं जितना कि मानव जीवन। ये सरलतम रूप से ऐसे प्राथमिक समुदाय का निर्माण करते हैं जो ऐतिहासिक रूप से व्यक्ति की मुख्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने में महत्त्वपूर्ण इकाई हैं।

(4) प्राथमिक समूह समाजीकरण की दृष्टि से प्राथमिक हैं–प्राथमिक समूह व्यक्ति का समाजीकरण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परिवार, पड़ोस तथा क्रीड़ा समूह बच्चों को सामाजिक प्राणी बनाने में (अर्थात् समाज की मान्यताओं के अनुरूप व्यवहार सिखाने में) विशेष महत्त्व रखते हैं। इन्हीं से व्यक्ति अपने समूह की परम्पराओं, मान्यताओं एवं संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। वास्तव में, हमारी रूढ़ियों तथा परम्पराओं का जन्म भी इसी समूह में होता है।

(5) प्राथमिक समूह सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर प्राथमिक हैं–प्राथमिक समूह में प्राथमिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। लक्ष्यों में सादृश्यता, स्वयं साध्य होना तथा सम्बन्धों का स्वजात, व्यक्तिगत एवं सर्वांगीण होना प्राथमिक सम्बन्धों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। परिवार, क्रीड़ा समूह तथा पड़ोस जैसे प्राथमिक समूहों में ये विशेषताएँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं। साथ ही, प्राथमिक समूहों को इसलिए भी प्राथमिक कहा गया है क्योंकि इन्हीं से व्यक्ति में सहिष्णुता, दया, प्रेम और उदारता की मनोवृत्ति जन्म लेती है।

(6) प्राथमिक समूह आत्म–नियन्त्रण की दृष्टि से भी प्राथमिक हैं–प्राथमिक समूह व्यक्ति में आत्म–नियन्त्रण की भावना उत्पन्न करते हैं। वास्तव में, ये सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन हैं। व्यक्ति सहानुभूति व त्याग की भावना के कारण ही, प्राथमिक समूह के नियमों को नहीं तोड़ता है। **कूले** का कहना है कि प्राथमिक समूहों द्वारा पाशविक प्रेरणाओं का मानवीकरण किया जाना ही, इनके द्वारा की जाने वाली प्रमुख सेवा है।

7.5.6 प्राथमिक समूहों का महत्त्व

प्राथमिक समूहों का सामाजिक जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। **लैण्डिस** ने इनके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि प्राथमिक समूहों से व्यक्ति में सहिष्णुता, दया, प्रेम और उदारता की मनोवृत्ति जन्म लेती है। यह उदारता व्यक्ति में प्रत्यक्ष शिक्षण की अपेक्षा अनुकरण तथा समूह की मनोवृत्तियों को सीखने से पनपती है। यद्यपि इसमें प्रत्यक्ष शिक्षण भी होता है, पर इसके मुख्य लक्षण पारस्परिक ध्यान व स्नेह हैं। दूसरे व्यक्तियों के लिए प्रेम और सहानुभूति की भावना प्रतियोगिता एवं स्वयं के स्वार्थ से ऊपर होती है। दुःख के समय पारिवारिक सहायता उपयुक्त रूप से दी जाती है। समूह के सदस्य एक–दूसरे के बारे में चर्चा करते हैं और अनुपस्थित सदस्य के बारे में रुचि लेते हैं और चिन्तित होते हैं।

निस्सन्देह मनुष्य प्राथमिक समूहों के कारण ही समाज के योग्य बनता है। यदि प्राथमिक समूह मानव जीवन में उपस्थित न रहें तो वह समाज में उपयुक्त नहीं बन सकेगा। मनुष्य को अपने जीवनकाल में किसी न किसी प्राथमिक समूह का सदस्य बनना ही पड़ता है। प्राथमिक समूह ही मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। **गिलिन** एवं **गिलिन** ने ठीक ही कहा है कि प्राथमिक समूह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। यह व्यक्तियों के अनुभवों तथा

मानव समाज के विकास में प्राथमिक होता है। अतः हम कह सकते हैं कि प्राथमिक समूह सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के आदर्श स्वरूप होते हैं।

किम्बल यंग ने प्राथमिक समूह की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि यह मौलिक मानव संघों का प्रतिनिधि है। सम्भवतः यह उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव जीवन। मौलिक मानव संघ सरलतम रूप से ऐसे प्राथमिक समूहों का निर्माण करते हैं जो ऐतिहासिक रूप से व्यक्ति की मुख्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने में महत्त्वपूर्ण होते हैं।

प्राथमिक समूहों में व्यक्तित्व का विकास होता है। वह इनसे अपनी प्रथाओं, परम्पराओं तथा संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। **मैकाइवर** एवं **पेज** का कहना है कि हम सबसे पहले प्राथमिक समूह की सामाजिक भावनाओं को सृजनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। हमारी सामाजिक रूढ़ियों तथा परम्पराओं का जन्म भी इन्हीं समूहों में होता है।

कूले के शब्दों में, "प्राथमिक समूहों द्वारा पाशविक प्रेरणाओं का मानवीकरण किया जाना ही सम्भवतः इनके द्वारा की जाने वाली प्रमुख सेवा है।" इसका तात्पर्य यह हुआ है कि मनुष्य के अन्तर्मन में पाशविक प्रेरणाएँ (जैसे घृणा, हिंसा, प्रतिशोध आदि) हुआ करती हैं और इन्हीं प्रेरणाओं पर प्राथमिक समूह विजय पाना सिखाता है तथा स्नेह, त्याग, प्रेम आदि भावों को उत्पन्न करता है। संक्षेप में, प्राथमिक समूह के महत्त्व को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) प्राथमिक समूह मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। जन्म लेने के पश्चात् ही इन समूहों का प्रभाव पड़ना हो जाता है। जीवन भर व्यक्ति का व्यवहार इन समूहों द्वारा प्रभावित होता रहता है।

(2) प्राथमिक समूह समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण हैं। **एच0 ई0 बार्नस** का कथन है कि समाजीकरण की प्रक्रिया के विकास में प्राथमिक समूह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। वे स्वाभाविक रूप से व्यक्ति के समाजीकरण, स्थापित संस्थाओं से एकीकरण व सुरक्षा में भी महत्त्वपूर्ण होते हैं।

(3) प्राथमिक समूह सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य साधन है। व्यक्ति सहानुभूति व त्याग की भावना के कारण प्राथमिक समूह के नियमों को नहीं तोड़ता। ये समूह उसके समाजीकरण के द्वारा उसकी पाशविक प्रवृत्तियों को समाप्त कर उसके व्यवहार पर नियन्त्रण लगाते हैं।

(7) प्राथमिक समूह हमें उचित–अनुचित का ज्ञान कराते हैं। ये सामूहिक मान्यताओं के अनुरूप व्यक्तित्व की रचना में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। उदाहरणार्थ, परिवार अपने सदस्यों को सामान्यतः समाज में उचित व्यवहार करना सिखाता है।

(5) प्राथमिक समूह इस प्रकार का वातावरण बनाते हैं जिनमें व्यक्ति को भावात्मक सुरक्षा मिलती है। **ब्रूम** का कहना है कि "प्राथमिक समूह व्यक्ति और समाज के मध्य सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है। प्राथमिक समूहों की सहायता से व्यक्ति को भावात्मक सुरक्षा प्राप्त होती है और इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति अपने उच्चतर लक्ष्यों को प्राप्त करता है।"

7.5.7 द्वितीयक समूह की अवधारणा का स्पष्टीकरण

आज सभ्यता की उन्नति के साथ–साथ द्वितीयक समूहों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। द्वितीयक समूह की प्रकृति प्राथमिक समूह की प्रकृति के विपरीत होती है। **किंग्सले डेविस** का कथन है कि, "स्थूल रूप से द्वितीय समूहों को, जो चीजें प्राथमिक समूह के बारे में कही गई हैं उनके विपरीत कहकर परिभाषित किया जा सकता है।" द्वितीयक समूह इतने विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं कि इनके सदस्यों को निकटता में रहने की आवश्यकता नहीं होती।

न ही सभी एक–दूसरे को वैयक्तिक रूप में जानते हैं। इनमें ऐसे सम्बन्ध होते हैं जो स्वयं में लक्ष्य नहीं होते, न वैयक्तिक और न ही संयुक्त होते हैं।

अतः प्राथमिक समूह के विपरीत विशेषताओं वाले समूह को द्वितीयक समूह की संज्ञा दी जाती है। यह समूह का वह रूप है जो अपने सामाजिक सम्पर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक समूहों की घनिष्ठता से भिन्न है। प्रमुख विद्वानों ने द्वितीयक समूह की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं–

ऑगबर्न एवं निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार–"जो समूह घनिष्ठता के अभाव वाले अनुभवों को प्रदान करते हैं, उन्हें द्वितीयक समूह कहा जाता है।" **फेयरचाइल्ड** (Fairchild) के अनुसार–"समूह का वह रूप, जो अपने सामाजिक सम्पर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक या आमने–सामने के समूह की तरह घनिष्ठता से भिन्न हो, द्वितीयक समूह कहलाता है।" **लुण्डबर्ग** (Lundberg) के अनुसार–"द्वितीयक समूह वे हैं जिनसे दो या अधिक व्यक्तियों के सम्बन्ध अवैयक्तिक, हित–प्रधान तथा व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित है।" **कूले** (Cooley) के अनुसार–"द्वितीयक समूह ऐसे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता का पूर्णतः अभाव होता है और सामान्यतः उन विशेषताओं का भी अभाव होता है जो कि अधिकतर प्राथमिक तथा अर्द्ध–प्राथमिक समूहों में पाई जाती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीयक समूहों में प्राथमिक समूहों के विपरीत विशेषताएँ पाई जाती हैं। वे आकार में बड़े होते हैं तथा इनमें घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है।

7.5.8 द्वितीयक समूहों की प्रमुख विशेषताएँ

द्वितीयक समूहों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) बड़ा आकार–द्वितीयक समूह में सदस्यों की संख्या अधिक होती है, अतएव द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। द्वितीयक समूहों की सदस्यता की कोई सीमा नहीं होती है।

(2) उद्देष्यों का विशेषीकरण–द्वितीयक समूह किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। कोई भी द्वितीयक समूह उद्देश्यविहीन नहीं होता और न ही किसी स्वार्थरहित द्वितीयक समूह की कल्पना ही की जा सकती है। इसी कारण **किम्बल यंग** ने इन्हें 'विशेष स्वार्थ समूह' कहा है।

(3) अप्रत्यक्ष सम्पर्क–द्वितीयक समूह में प्रत्यक्ष सम्पर्क भी हो सकते हैं, तथापि प्रायः अप्रत्यक्ष सम्पर्क ही अधिक पाया जाता है। इसका मुख्य कारण समूह के आकार का बड़ा होना है। अप्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण घनिष्ठता का जन्म उस सीमा तक नहीं होता है जितना कि प्राथमिक समूह में होता है।

(4) व्यक्तिगत तथा घनिष्ठ सम्बन्धों का अभाव–द्वितीयक समूहों में घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होने के कारण प्रत्येक सदस्य परस्पर वैयक्तिक रूप में सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता, अतः उनमें घनिष्ठता नहीं आ पाती है।

(5) उद्देश्यों की भिन्नता–द्वितीयक समूह में प्रत्येक व्यक्ति अपने हित या लक्ष्य को पूरा करने की सोचता है। जब सभी सदस्य अपने ही हित को पाने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे तब उस स्थिति में उद्देश्यों की भिन्नता पाई जाएगी। उद्देश्यों की भिन्नता के कारण ही द्वितीयक समूहों में स्वार्थ–सिद्धि तथा प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन मिलता है।

(6) औपचारिक सम्बन्ध–द्वितीयक समूहों के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ निश्चित नियमों व उपनियमों के अनुसार नियन्त्रित होता है। यदि ये नियम नहीं हों तो इन समूहों में अव्यवस्था फैल जाएगी। इन नियमों के कारण सदस्यों का सम्बन्ध औपचारिक होता है।

(7) इच्छा से सम्बन्धित–चूँकि ये विशेष स्वार्थ समूह होते हैं इस कारण इनकी स्थापना जानबूझकर की जाती है। जब सदस्यों को कोई विशेष लक्ष्य या उद्देश्य प्राप्त करना होता है तो उस दशा में लोग द्वितीयक समूह की स्थापना करते हैं ताकि उनके लक्ष्यों की पूर्ति हो सके।

7.5.9 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में अन्तर

प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों की विशेषताएँ पूर्णतः एक–दूसरे के विपरीत होती हैं। दोनों में निम्नलिखित प्रमुख आधारों पर अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) आकार–प्राथमिक समूह का आकार छोटा होता है। उदाहरण के लिए, परिवार, पड़ोस तथा मित्र–मण्डली का आकार सीमित है। **फेयरचाइल्ड** के अनुसार इनमें तीन–चार व्यक्तियों से लेकर पचास–साठ व्यक्तियों तक तथा **कूले** के अनुसार इसमें दो से साठ व्यक्तियों तक की संख्या हो सकती है। द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। इसके सदस्यों की संख्या असीमित हो सकती है। सम्पूर्ण राष्ट्र भी एक द्वितीयक समूह है जिसकी संख्या असीमित होती हैं।

(2) सम्बन्ध–प्राथमिक समूह के सदस्यों में आमने–सामने के वैयक्तिक व घनिष्ठ सम्बन्ध पाए जाते हैं। वैयक्तिक सम्बन्धों के कारण इनमें औपचारिकता नहीं होती है। इसके विपरीत प्रेम, सहयोग, सद्भावना आदि आन्तरिक गुणों का समावेश होता है। इनमें हम की भावना की प्रधानता रहती है। द्वितीयक समूह में अप्रत्यक्ष एवं अवैयक्तिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। इनमें सहयोग, स्नेह, घनिष्ठता की कमी होती है और 'हम' के स्थान पर 'मैं' की प्रधानता रहती है।

(3) हित–प्राथमिक समूह में कोई विशेष हित (Interest) नहीं होता है। सभी कार्यों में प्रत्येक सदस्य पूर्ण हृदय से हिस्सा लेते हैं। वे समूह के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहते हैं। द्वितीयक समूह में, जो कि विशेष स्वार्थ समूह के नाम से जाने जाते हैं, प्रत्येक सदस्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जी जान से कोशिश करता है। यदि उसे अपने हित के लिए दूसरे सदस्यों के हितों की अवहेलना भी करनी पड़ जाए तो भी वह इसके लिए तत्पर रहता है।

(4) सम्बन्धों का जन्म–प्राथमिक सम्बन्धों का जन्म स्वतः होता है। इस प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना में किसी प्रकार की कोई शर्त या दबाव नहीं होता है। द्वितीयक समूह में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आडम्बर या कृत्रिमता का आश्रय लिया जाता है। इनमें प्राथमिक सम्बन्धों (जो कि आमने–सामने के सम्बन्ध हैं) के विपरीत, सम्बन्ध अप्रत्यक्ष अथवा दूर–संचार के माध्यम से होते हैं।

(5) दायित्व –प्राथमिक समूहों में दायित्व की कोई सीमा नहीं होती है। यह नहीं बताया जा सकता कि माँ अपने पुत्र के प्रति कितने दायित्वों को निभाएगी। द्वितीयक समूहों में सदस्यों का दायित्व सीमित व शर्तों या नियमों के अनुसार होता है।

(6) नियम–प्राथमिक समूहों में किसी प्रकार का लिखित नियम (Principles) नहीं होते हैं। ये समूह औपचारिक होते हैं। ये अपने सदस्यों पर कोई कानून या शर्त नहीं लगाते हैं। द्वितीयक समूह की प्रकृति औपचारिक है। इसमें अनेक प्रकार के नियम, कानून तथा कार्यविधियों को सदस्यों पर थोपा जाता है और नियम का उल्लंघन करने वालों को औपचारिक दण्ड मिलता है।

(7) नियन्त्रण–प्राथमिक समूहों में नियन्त्रण (Control) की प्रकृति अनौपचारिक होती है। निन्दा व तिरस्कार आदि के द्वारा सदस्यों का व्यवहार नियन्त्रित होता है। द्वितीयक समूहों के नियन्त्रण की प्रकृति औपचारिक है। द्वितीयक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार पर नियन्त्रण कानून, पुलिस आदि द्वितीयक साधनों की सहायता से करता है।

(8) क्षेत्र–प्राथमिक समूह प्रत्येक काल व प्रत्येक समाज में पाए जाते हैं। अन्य शब्दों में, ये सार्वभौमिक होते हैं। ये समूह बहुत छोटे क्षेत्र (Scope) में व्याप्त होते हैं। द्वितीयक समूह सार्वभौमिक नहीं होते हैं। इनका भौगोलिक क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत होता है। कोई–कोई द्वितीयक समूह सम्पूर्ण देश में भी फैला हो सकता है।

(9) प्रभाव–प्राथमिक समूह व्यक्ति के विचारों व मनोवृत्तियों को बनाते हैं, अतः इनका प्रभाव (Impact) सर्वव्यापी होता है। द्वितीयक समूह विशेषीकृत समूह होते हैं और इनका प्रभाव कुछ विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित रहता है।

(10) व्यक्तित्व–प्राथमिक समूह में व्यक्ति के व्यक्तित्व (Personality) का सम्पूर्ण भाग समूह के सम्पर्क में आता है। इसीलिए प्राथमिक समूह के सदस्य एक–दूसरे के बारे में पूर्णतया परिचित होते हैं। द्वितीयक समूह के सदस्यों में व्यक्तित्व का केवल कुछ भाग ही समूह के सम्पर्क में आता है।

(11) कार्य–प्राथमिक समूह एक प्रमुख कार्य (Function) मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करना है या समाजीकरण करना है। **कूले** के अनुसार, "यह मानव स्वभाव का निर्माण स्थल है।" इसके विपरीत, द्वितीयक समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व का विशेषीकरण करते हैं या विशेषीकरण करने वाले समूह होते हैं।

(12) सदस्यता–प्राथमिक समूह की सदस्यता (Membership) अनिवार्य होती हैं। इसके कारण मनुष्य को अपने परिवार, खेल–समूह तथा पड़ोस में रहना पड़ता है। द्वितीयक समूह की सदस्यता अनिवार्य नहीं है। जब व्यक्ति यह महसूस करता है कि उसे हित विशेष को प्राप्त करना है, तभी वह द्वितीयक समूह का सदस्य बनता है।

(13) कार्य–क्षेत्र–प्राथमिक समूह का कार्य–क्षेत्र (Work area) सीमित तथा कम होता है। द्वितीयक समूह का कार्य–क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।

(14) 'हम' की भावना–प्राथमिक समूह में हम की भावना (We feeling) पाई जाती है तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध प्राथमिक होते हैं। द्वितीयक समूह में किसी प्रकार की हम की भावना नहीं पाई जाती है तथा सम्बन्ध गौण होते हैं।

(15) व्यक्तिगत (Individualistic) **एवं सामूहिक हित** (Collective interests)–प्राथमिक समूह समष्टिवादी होते हैं। इसी कारण सदस्यों के व्यक्तिगत हित सामूहिक हित में विलीन हो जाते हैं। द्वितीयक समूह व्यक्तिवादी होते हैं। इनमें सामूहिक हितों की अपेक्षा व्यक्तिगत हितों को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

(16) प्राचीनता–अत्यधिक प्राचीनता (Ancientness) प्राथमिक समूह की प्रमुख विशेषता है। प्राथमिक समूह शायद उतने ही प्राचीन हैं जितना कि स्वयं मानव समाज। द्वितीयक समूह तुलनात्मक रूप में नए समूह हैं। जनसंख्या में वृद्धि, औद्योगिक क्रान्ति, सामाजिक गतिशीलता इत्यादि कारणों से आधुनिक समाजों में द्वितीयक समूहों की संख्या में वृद्धि हुई है।

किंग्सले डेविस द्वारा प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में किया गया अन्तर निम्नांकित तालिका द्वारा दर्शाया गया है–

क्र0सं0	प्राथमिक समूह	द्वितीयक समूह
(1)	**भौतिक स्थितियाँ**	
	स्थानीय निकटता	स्थानीय दूरी
	कम संख्या	अधिक संख्या
	लम्बी अवधि	अल्प अवधि
(2)	**सामाजिक विशेषताएँ**	
	लक्ष्यों की एकरूपता (पहचान)	लक्ष्यों की अनेकरूपता
	सम्बन्धों का आन्तरिक मूल्यांकन	सम्बन्धों का बाह्य मूल्यांकन
	अन्य व्यक्तियों का आन्तरिक मूल्यांकन	अन्य व्यक्तियों का बाह्य मूल्यांकन
	अन्य व्यक्तियों का अभिव्यापक ज्ञान	अन्य व्यक्तियों का सीमित तथा विशेषीकृत ज्ञान
	स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छा की भावना	बाह्य नियन्त्रण की भावना
	कार्यशीलता	औपचारिक नियन्त्रण की कार्यशीलता
(3)	**सम्बन्धों के उदाहरण**	
	मित्र–मित्र	विक्रेता–ग्राहक
	पति–पत्नी	वक्ता–श्रोता
	माता–पिता और सन्तान	अभिनेता और दर्शक
	अध्यापक–शिष्य	अधिकारी तथा अधीन व्यक्ति
		लेखक तथा पाठक
(4)	**उदाहरण**	
	क्रीड़ा समूह, परिवार, गाँव या पड़ोस, एक साथ कम करने वाले व्यक्ति	राष्ट्र, क्लर्कों का संगठन, व्यावसायिक समिति, कॉरपोरेशन (निगम)

7.6 सन्दर्भ समूह

सामाजिक समूह के प्रमुख प्रकारों में सुप्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्रीय रोबर्ट के० मर्टन द्वारा प्रतिपादित सन्दर्भ समूह की अवधारणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस अवधारणा का प्रयोग मनोविज्ञान में भी किया जाता है। मर्टन ने 'द अमेरिकन सोल्जर' पुस्तक से सामग्री लेकर अपने सैद्धान्तिक विचारों को व्यावहारिक रूप से समझाने का प्रयास किया है। यद्यपि सन्दर्भ समूह से सम्बन्धित कुछ तथ्य इस अवधारणा से पहले ही प्रकाश में आ गए थे तथापि इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हाइमन द्वारा अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'प्रस्थिति का मनोविज्ञान' में 1972 में किया गया जिसके पश्चात् यह अवधारणा समाजशास्त्र में प्रचलित हुई।

सन्दर्भ समूह शब्द को, समूहों के लिए ही नहीं अपितु व्यक्तियों अथवा सामाजिक श्रेणियों के लिए भी प्रयोग किया जाता है। इसलिए इसकी परिभाषा देना एक कठिन कार्य है। प्रत्येक समूह अन्य समूहों से भिन्न होता है। सामाजिक समूह तथा सामाजिक श्रेणी में प्रमुख अन्तर यह है कि सामाजिक समूह के सदस्यों में काफी अन्तर्क्रिया पाई जाती है, जबकि सामाजिक श्रेणी का सम्बन्ध व्यक्तियों की मान्यता प्राप्त स्थितियों से है जिनमें अन्तर्क्रिया अधिक नहीं पाई जाती है। मर्टन के मतानुसार सन्दर्भ समूह की परिभाषा देना इसलिए भी कठिन है क्योंकि समूह शब्द की परिभाषा भी विविध प्रकार से दी गई है। सामान्यतः समूह व्यक्तियों का ऐसा संकलन है जो कि प्रचलित मान्यताओं के अनुसार परस्पर अन्तर्क्रियाएँ करते हैं अर्थात् व्यक्तियों में सामाजिक सम्बन्ध पाए जाते हैं तथा अन्तर्क्रियारत व्यक्ति अपने आप को उसका सदस्य मानते हैं।

सन्दर्भ–समूह से अभिप्राय उस समूह से है जिसे आधार मानकर व्यक्ति अपने आप का मूल्यांकन करता है तथा अपने आप को उस समूह की भाँति बनाने का प्रयास करता है। ये एक

प्रकार से वह समूह है जिसका प्रयोग कोई व्यक्ति तुलना के लिए मापदण्ड के रूप में करता है। मर्टन के अनुसार सन्दर्भ समूह के सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य सामान्य रूप से मूल्यांकन की उस प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप प्रदान करना है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी तुलना अन्य समूहों अथवा व्यक्तियों से करके उनके मूल्यों एवं प्रतिमानों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। सन्दर्भ समूह अन्तःसमूह भी हो सकते हैं अथवा बाह्यसमूह भी।

सन्दर्भ समूह की व्याख्या हेतु सापेक्षिक बलिदान की अवधारणा का भी प्रयोग किया जाता है। अधिकांश अमेरिकी सैनिक, सैनिकों की भूमिका को अर्थात् सैनिक सेवा को सापेक्षिक बलिदान का परिणाम ही मानते हैं क्योंकि भर्ती होने वाले सैनिक, सैनिक जीवन की विशेषता को भली–भाँति जानते हैं। यदि अमेरिकी सैनिक अपनी तुलना गैर–सैनिक समूह से करता है तो सन्तोष अनुभव करता है, परन्तु विदेशों में नियुक्त सैनिक जब अपनी तुलना अमेरिका में नियुक्त सैनिक से करते हैं तो उनमें असन्तोष पैदा होता है।

सापेक्षिक बलिदान की अवधारणा का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया गया है–

(1) वैवाहिक सैनिक अविवाहित सैनिकों से अपनी तुलना करके यह महसूस करते हैं कि उन्हें सेना में भर्ती करके उनसे अधिक बलिदान (कुर्बानी) की माँग की गई है।

(2) हाईस्कूल तथा स्नातक स्तर तक शिक्षा प्राप्त सैनिकों में अपने मित्रों से तुलना करने के परिणामस्वरूप यह भावना पाई जाती है कि उनसे उनके नागरिक मित्रों की अपेक्षा अधिक बलिदान की माँग की गई है।

(3) उच्च शिक्षा प्राप्त सैनिकों को, जो उच्च सैनिक पद प्राप्त नहीं कर पाते हैं, अधिक बलिदान देना पड़ता है तथा इसलिए उनमें निराशा अधिक पाई जाती है।

(4) युद्धरत सैनिकों की अपेक्षा विदेशों में स्थित अमेरिकी सैनिकों (जो युद्ध की स्थिति में नहीं हैं) में बहुत कम बलिदान की भावना पाई जाती है।

(5) सैनिकों और अधिकारियों की सुविधाओं में जितना अन्तर कम होगा उतना ही उनमें सन्तोष अधिक होगा तथा बलिदान की भावना भी कम पाई जाएगी।

(6) जो सैनिक अपने स्थान, अवधि तथा शिक्षा वाले सैनिक की तुलना में कम पदोन्नति कर पाए हैं, उनमें पदोन्नति के प्रति शिकायत रहती है तथा वे इसकी आलोचना करते हैं।

(7) यदि कोई व्यक्ति एक ही पद (उदाहरण के लिए कैप्टन) पर अन्यों (अन्य कैप्टनों) की अपेक्षा अधिक देर तक रहता है तो वह पदोन्नति की व्यवस्था से खुश नहीं रहता।

(8) सापेक्षित स्थिति की दृष्टि से दक्षिण में नियुक्ति के कारण उत्तरी तथा दक्षिणी नीग्रो सैनिकों में सामंजस्य अनेक मनोवैज्ञानिक कारकों द्वारा प्रभावित होता है। अन्य नीग्रो नागरिकों की अपेक्षा वह अपने आप को अधिक धनी तथा प्रतिष्ठित मानते हैं।

(9) दक्षिण में नीग्रो सैनिकों के सैनिक जीवन के मनोवैज्ञानिक मूल्य नागरिकों के मूल्यों से ऊँचे हैं तथा इसी प्रकार उत्तर में स्थित नीग्रो सैनिक नीग्रो नागरिकों से ऊँचे हैं।

अपवर्त्य सन्दर्भ समूह व्यक्तियों को अपना मूल्यांकन करने का सन्दर्भ उपलब्ध कराते हैं। सन्दर्भ समूह की अवधारणा सापेक्षिक बलिदान की अवधारणा तक ही सीमित नहीं है अपितु इसका प्रयोग अधिक विस्तृत अर्थों में किया जाता है। सन्दर्भ समूह व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करके उनमें अनुरूपता लाने का प्रयास करते हैं। संरचनात्मक सन्दर्भ–समूह व्यक्तियों के व्यवहार को एक–समान रूप से प्रभावित करते हैं क्योंकि सन्दर्भ समूह एक होने के कारण सैनिक एक प्रकार के मूल्य ही ग्रहण करने का प्रयास करते हैं तथा उनकी मनोवृत्तियों एवं दृष्टिकोणों में एक प्रकार से समरूपता विकसित होती है। सन्दर्भ समूह सामाजिक गतिशीलता में भी सहायक माने जाते हैं। सन्दर्भ समूह को कई बार सकारात्मक तथा नकारात्मक सन्दर्भ

समूहों में भी विभाजित किया जाता है। सकारात्मक सन्दर्भ समूह वह समूह है जिसका प्रयोग मान्यताओं अथवा प्रतिमानों के सात्मीकरण तथा स्व–मूल्यांकन द्वारा उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयोग किया जाता है, जबकि नकारात्मक समूह वे हैं जिनकी मान्यताओं अथवा प्रतिमानों का परिष्कार किया जाता है। नकारात्मक सन्दर्भ समूहों पर अभी तक अधिक अनुसन्धान नहीं हुए हैं। माता–पिता के प्रति युवकों का विद्रोह इत्यादि व्यवहार के प्रतिमान नकारात्मक सन्दर्भ समूह के परिणामस्वरूप ही हैं। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नकारात्मक व्यक्तित्व तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि से संघर्षमयी क्रियाओं व मान्यताओं द्वारा चित्रित किया जा सकता है।

मर्टन के अनुसार सन्दर्भ समूह के चयन को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक निम्नांकित हैं–

(1) समूहों की सदस्यता हेतु सामाजिक नियमों या परिभाषाओं की अस्पष्टता या स्पष्टता,

(2) समूहों के सदस्यों की सहभागिता की मात्रा,

(3) समूह में सदस्यता की वास्तविक अवधि,

(7) समूह में सदस्यता की अपेक्षित अवधि,

(5) समूह के अस्तित्व की वास्तविक अवधि,

(6) समूह के अस्तित्व की अपेक्षित अवधि,

(7) समूह का निरपेक्ष आकार,

(8) समूह का अपेक्षित आकार,

(9) समूह की प्रकृति (मुक्त या बन्द),

(10) समूह में सामान्य व महत्त्वपूर्ण सदस्यों का अनुपात,

(11) समूह में सामाजिक विभेदीकरण की मात्रा,

(12) समूह में संस्तरण का आकार,

(13) समूह में सामाजिक संश्लिश्टता,

(17) समूह में सामाजिक अन्तर्क्रियाओं की मात्रा,

(15) समूह के सदस्यों में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति,

(16) समूह के आदर्शों व नियमों के प्रति अपेक्षित समरूपता अथवा विचलित व्यवहार के प्रति सहनशीलता,

(17) समूह में आदर्शात्मक नियन्त्रण की व्यवस्था,

(18) समूह में भूमिकाओं के मूल्यांकन की मात्रा,

(19) समूह की पारिस्थितिकीय संरचना,

(20) समूह में स्वायत्तता या निर्भरता की मात्रा,

(21) समूह में स्थायित्व की मात्रा,

(22) समूह में संरचनात्मक सन्दर्भ की मात्रा,

(23) समूह में स्थायित्व स्थापित करने की पद्धतियाँ,

(27) समूह की अपेक्षित सामाजिक प्रतिष्ठा तथा

(25) समूह की सापेक्षिक शक्ति।

सामान्यतः यह माना जाता है कि व्यक्ति अपने समूह के अतिरिक्त अन्य बाहरी समूहों को अपने व्यवहार का मूल्यांकन करने के लिए प्रयोग में लाते हैं, परन्तु मर्टन का कहना है कि

वास्तविक तथ्य यह है कि सदस्यता समूह ही व्यक्तियों के मूल्यों और प्रतिमानों के निर्धारण का कार्य करते हैं।

7.7 सारांश

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है तथा वह प्रारम्भ से ही सामाजिक समूहों में निवास करता रहा है। पाठ्य–सामग्री के आधार पर आप समझ गए होंगे कि सामाजिक समूह व्यक्तियों का एक ऐसा संकलन है जो सामाजिक सम्बन्धों द्वारा एक दूसरे से बँधे हुए होते हैं। सामाजिक समूह अनेक प्रकार के होते हैं। सबसे चर्चित सामाजिक समूह समनर द्वारा वर्णित अन्तःसमूह एवं बाह्यसमूह तथा कूले द्वारा वर्णित प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह हैं। अन्तःसमूह को व्यक्ति अपना समूह मानता है तथा इसके सदस्यों में अपनत्व की भावना पाई जाती है। बाह्यसमूह को पराया माना जाता है तथा इसके सदस्यों के प्रति अपनत्व की भावना का अभाव पाया जाता है। प्राथमिक समूह आकार में छोटे होते हैं। सदस्यों में भौतिक निकटता पायी जाती है तथा इसके सदस्यों के सम्बन्धों में स्थायित्व पाया जाता है। व्यक्ति के समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण में प्राथमिक समूह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। प्राथमिक समूह के विपरीत विशेषताओं वाले समूह को द्वितीयक समूह कहते हैं। परिवार, पड़ोस तथा क्रीड़ा समूह प्राथमिक समूह के उदाहरण हैं, जबकि श्रमिक संघ, छात्र संघ, भूकम्प राहत समिति इत्यादि द्वितीयक समूहों के उदाहरण हैं। सुप्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री रॉबर्ट के० मर्टन द्वारा प्रतिपादित 'सन्दर्भ समूह' की अवधारणा भी अत्यन्त चर्चित है। सन्दर्भ समूह से अभिप्राय उस समूह से है जिससे व्यक्ति अपने आप का मूल्यांकन करता है तथा उस समूह की भाँति अपने को बनाने का प्रयास करता है। उन्होंने अमेरिकी सैनिकों के उदाहरण द्वारा सन्दर्भ समूह की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

7.8 शब्दावली

सामाजिक समूह – व्यक्तियों का वह संकलन जिनमें सामाजिक सम्बन्ध पाए जाते हैं।

अन्तःसमूह – वह समूह जिसे व्यक्ति अपना मानता है तथा जिसके प्रति अपनत्व की भावना रखता है।

बाह्यसमूह – वह समूह जिसे व्यक्ति अपना नहीं मानता है तथा जिसके प्रति वह घृणा की भावना रखता है।

प्राथमिक समूह – लघु आकार का वह समूह जिसके सदस्यों में आमने–सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध पाए जाते हैं तथा सम्बन्धों में स्थायित्व होता है।

द्वितीयक समूह – प्राथमिक समूहों की विपरीत विशेषताओं वाले समूहों को द्वितीयक समूह कहते हैं। इसके सदस्यों में घनिष्ठता का अभाव होता है तथा यह आकार में बड़ा होता है।

सन्दर्भ समूह – वह समूह जिसका प्रयोग कोई व्यक्ति तुलना के लिए मापदण्ड के रूप में करता है। यह अन्तःसमूह भी हो सकता है तथा बाह्यसमूह भी।

7.9 अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक समूह किसे कहते हैं? सामाजिक समूहों की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. सामाजिक समूह को परिभाषित कीजिए तथा समूहों के प्रमुख प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
3. सामाजिक समूह क्या है? अन्तःसमूह व बाह्यसमूह में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
4. प्राथमिक समूह की अवधारणा स्पष्ट कीजिए तथा इसकी प्रकृति को संक्षेप में समझाइए।
5. प्राथमिक समूह को परिभाषित कीजिए। प्राथमिक समूहों को प्राथमिक क्यों कहा जाता है? तर्क दीजिए।
6. द्वितीयक समूह किसे कहते हैं? प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
7. द्वितीयक समूह का अर्थ बताइए तथा इसकी प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
8. मर्टन की सन्दर्भ समूह की अवधारणा को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

7.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

C. H. Cooley (1909), **Social Organization : A Study of the Larger Mind**, **Charles** Scribner's Sons, New York.

C. H. Cooley (1933), **Introductory Sociology**, **Charles** Scribner's Sons, New York.

E. S. Bogardus (1967), **Sociology**, The Macmillan Company, New York.

F. Tonnies (1988), **Community and Society**, Michigan State University Press, Michigan.

G. A. Lundberg (1977), **Sociology**, Oxford University Press, New York.

H. P. Fairchild (1977), **Dictionary of Sociology** (ed.), Philosophical Library, New York.

Herbert H. Hyman (1972), **The Psychology of Status**, Columbia University, New York.

J. L. Gillin and J. P. Gillin (1978), **Cultural Sociology**, The Macmillan Company, New York.

Kimball Young (1976), **A Handbook of Social Psychology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

Kingsley Davis (1979), **Human Society**, The Macmillan Company, New York.

R. M. MacIver and C. H. Page (1962), **Society : An Introductory Analysis**, Holt, Rinehart and Winston, New York.

Robert K. Merton (1968), **Social Theory and Social Structure**, The Free Press, New York.

T. B. Bottomore (1971), **Sociology : A Guide to Problems and Literature**, Prentice-Hall, Inc., N.J.

W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff (1967), **A Handbook of Sociology**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London.

W. G. Sumner (1906), **Folkways : A Study of the Sociological Importance of Usages, Manners, Customs, Mores, and Morals**, Ginn, Boston.

इकाई 8 : संस्कृतिः अर्थ, प्रकार और विशेषतायें

(Culture: Meaning, Forms & Characteristics)

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा
8.3 संस्कृति की प्रकृति या विशेषताँए
8.4 संस्कृति के प्रकार
8.5 भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अन्तर
8.6 संस्कृति की संरचना
8.7 संस्कृति के प्रकार्य
8.8 सांस्कृतिक विलम्बन
8.9 सभ्यता और संस्कृति में अन्तर
8.10 संस्कृति एवं व्यक्तित्व
8.11 सारांश

8.12 शब्दावली
8.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.14 संदर्भ ग्रंथ सूची
8.15 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
8.16 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- समझ सकेंगे कि "संस्कृति" का वैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय अर्थ क्या है।
- संस्कृति एवं सभ्यता में अन्तर कर सकेंगे।
- संस्कृति की इकाईयाँ कौन–कौन से है, जिससे संस्कृति निर्मित होती है।
- बता पाएँगे कि संस्कृति एवं व्यक्तित्व में क्या संबंध है।

8.1 प्रस्तावना

संस्कृति शब्द का प्रयोग हम दिन–प्रतिदिन के जीवन में (अक्सर) निरन्तर करते रहते हैं। साथ ही संस्कृति शब्द का प्रयोग भिन्न–भिन्न अर्थों में भी करते हैं। उदाहरण के तौर पर हमारी संस्कृति में यह नहीं होता तथा पश्चिमी संस्कृति में इसकी स्वीकृति है। समाजशास्त्र विज्ञान के रूप में किसी भी अवधारणा का स्पष्ट अर्थ होता है जो कि वैज्ञानिक बोध को दर्शाता है। अतः "संस्कृति" का अर्थ समाजशास्त्रीय अवधारणा के रूप में "सीखा हुआ व्यवहार" होता है। अर्थात् कोई भी व्यक्ति बचपन से अब तक जो कुछ भी सीखता है, उदाहरण के तौरे पर खाने का तरीका, बात करने का तरीका, भाषा का ज्ञान, लिखना–पढना तथा अन्य योग्यताएँ, यह संस्कृति है।

मनुष्य का कौन सा व्यवहार संस्कृति है?

मनुष्य के व्यवहार के कई पक्ष हैं–

(अ) जैविक व्यवहार (Biological behaviour)
जैसे– भूख, नींद, चलना, दौड़ना।

(ब) मनोवैज्ञानिक व्यवहार (Psychological behaviour)
जैसे– सोचना, डरना, हँसना आदि।

(स) सामाजिक व्यवहार (Social behaviour)
जैसे– नमस्कार करना, पढ़ना–लिखना, बातें करना आदि।

क्या आप जानते हैं कि मानव संस्कृति का निर्माण कैसे कर पाया ?

लेस्ली ए व्हाईट (Leslie A White) ने मानव में पाँच विशिष्ट क्षमताओं का उल्लेख किया हैं, जिसे मनुष्य ने प्रकृति से पाया है और जिसके फलस्वरुप वह संस्कृति का निर्माण कर सका है :–

पहली विशेषता है– मानव के खड़े रहने की क्षमता, इससे व्यक्ति दोनों हाथों द्वारा उपयोगी कार्य करता है।

दूसरा–मनुष्य के हाथों की बनावट है, जिसके फलस्वरुप वह अपने हाथों का स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी दिशा में घुमा पाता है और उसके द्वारा तरह–तरह की वस्तुओं का निर्माण करता है।
तीसरा–मानव की तीक्ष्ण दृष्टि, जिसके कारण वह प्रकृति तथा घटनाओं का निरीक्षण एवं अवलोकन कर पाता है और तरह–तरह की खोज एवं अविष्कार करता है।
चौथा–विकसित मस्तिष्क, जिसकी सहायता से मनुष्य अन्य प्राणियों से अधिक अच्छी तरह सोच सकता है। इस मस्तिष्क के कारण ही वह तर्क प्रस्तुत करता है तथा कार्य–कारण सम्बन्ध स्थापित कर पाता है।
पाँचवाँ–प्रतीकों के निर्माण की क्षमता। इन प्रतीकों के माध्यम से व्यक्ति अपने ज्ञान व अनुभवों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित कर पाता है। प्रतीकों के द्वारा ही भाषा का विकास सम्भव हुआ और लोग अपने ज्ञान तथा विचारों के आदान–प्रदान में समर्थ हो पाये हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रतीकों का संस्कृति के निर्माण, विकास, परिवर्तन तथा विस्तार में बहुत बड़ा योगदान है।

8.2 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा

प्रसिद्ध मानवशास्त्री **एडवर्ड बनार्ट टायलर (1832–1917)** के द्वारा सन् **1871** में प्रकाशित पुस्तक **Primitive Culture** में संस्कृति के संबंध में सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है। **टायलर** मुख्य रूप से संस्कृति की अपनी परिभाषा के लिए जाने जाते हैं, इनके अनुसार, **"संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला आचार, कानून, प्रथा और अन्य सभी क्षमताओं तथा आदतों का समावेश होता है जिन्हें मनुष्य समाज के नाते प्राप्त कराता है।"**
टायलर ने संस्कृति का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। इनके अनुसार सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति अपने पास जो कुछ भी रखता है तथा सीखता है वह सब संस्कृति है। इस परिभाषा में सिर्फ अभौतिक तत्वों को ही सम्मिलित किया गया है।
राबर्ट बीरस्टीड (The Social Order) द्वारा संस्कृति की दी गयी परिभाषा है कि "संस्कृति वह संपूर्ण जटिलता है, जिसमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं, जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।"
इस परिभाषा में संस्कृति दोनों पक्षों भौतिक एवं अभौतिक को सम्मिलित किया गया है।

हर्षकोविट्स(Man and His Work) के शब्दों में "संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है" इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि पर्यावरण के दो भाग होते हैं–
पहला–प्राकृतिक और दूसरा–सामाजिक। सामाजिक पर्यावरण में सारी भौतिक और अभौतिक चीजें आती हैं, जिनका निर्माण मानव के द्वारा हुआ है। उदाहरण के जिए कुर्सी, टेबल, कलम, रजिस्टर, धर्म, शिक्षा, ज्ञान, नैतिकता आदि। **हर्षकोविट्स** ने इसी सामाजिक पर्यावरण, जो मानव द्वारा निर्मित है, को संस्कृति कहा है।

बोगार्डस के अनुसार, "किसी समूह के कार्य करने और विचार करने के सभी तरीकों का नाम संस्कृति है।"
इस पर आप ध्यान दें कि, **बोगार्डस** ने भी **बीयरस्टीड** की तरह ही अपनी भौतिक एवं अभौतिक दोनों पक्षों पर बल दिया है।

मैलिनोस्की–"संस्कृति मनुष्य की कृति है तथा एक साधन है, जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करता है।" आपका कहना है कि "संस्कृति जीवन व्यतीत करने की एक संपूर्ण विधि (Total Way of Life) है जो व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।"

8.3 संस्कृति की प्रकृति या विशेषताएँ (Nature or Characteristics of Culture)

संस्कृति के सम्बन्ध में विभिन्न समाजशास्त्रियों के विचारों को जानने के बाद उसकी कुछ विशेषताएँ स्पष्ट होती है, जो उसकी प्रकृति को जानने और समझने में भी सहायक होती है। यहाँ कुछ प्रमुख विशेषताओं का विवेचन किया जा रहा है–

i. **संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है (Culture is learned behaviour)**–संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है। इसे व्यक्ति अपने पूर्वजों के वंशानुक्रम के माध्यम से नहीं प्राप्त करता, बल्कि समाज में समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है। यह सीखना जीवन पर्यन्त अर्थात् जन्म से मृत्यु तक अनवरत चलता रहता है। आपको जानना आवश्यक है कि संस्कृति सीख हुआ व्यवहार है, किन्तु सभी सीखे हुए व्यवहार को संस्कृति नहीं कहा जा सकता है। पशुओं द्वारा सीखे गये व्यवहार को संस्कृति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पशु जो कुछ भी सीखते हैं उसे किसी अन्य पशु को नहीं सीखा सकते। संस्कृति के अंतर्गत वे आदतें और व्यवहार के तरीके आते है, जिन्हें सामान्य रूप से समाज के सभी सदस्यों द्वारा सीखा जाता है। इस सन्दर्भ में **लुन्डबर्ग (Lundbarg)** ने कहा है कि,"संस्कृति व्यक्ति की जन्मजात प्रवृत्तियों अथवा प्राणीशास्त्रीय विरासत से सम्बन्धित नहीं होती, वरन् यह सामाजिक सीख एवं अनुभवों पर आधरित रहती है।"

ii. **संस्कृति सामाजिक होती है (Culture is Social**)– संस्कृति में सामाजिकता का गुण पाया जाता है। संस्कृति के अन्तर्गत पूरे समाज एवं सामाजिक सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी एक या दो–चार व्यक्तियों द्वारा सीखे गये व्यवहार को संस्कृति नहीं कहा जा सकता। कोई भी व्यवहार जब तक समाज के अधिकतर व्यक्तियों द्वारा नहीं सीखा जाता है तब तक वह संस्कृति नहीं कहलाया जा सकता। संस्कृति एक समाज की संपूर्ण जीवन विधि (**Way of Life**) का प्रतिनिधित्व करती है। यही कारण है कि समाज का प्रत्येक सदस्य संस्कृति को अपनाता है। संस्कृति सामाजिक इस अर्थ में भी है कि यह किसी व्यक्ति विशेष या दो या चार व्यक्तियों की सम्पत्ति नहीं है। यह समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए होता है। अतः इसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है।

iii. **संस्कृति हस्तान्तरित होती है (Culture is Transmissive) –** संस्कृति के इसी गुण के कारण ही संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाती है तो उसमें पीढ़ी–दर–पीढ़ी के अनुभव एवं सूझ जुड़ते जाते हैं। इससे संस्कृति में थोड़ा–बहुत परिवर्तन एवं परिमार्जन होता रहता है। संस्कृति के इसी गुण के कारण मानव अपने पिछले ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर आगे नई–नई चीजों का अविष्कार करता है।

आपको यह समझना होगा कि– पशुओं में भी कुछ–कुछ सीखने की क्षमता होती है। लेकिन वे अपने सीखे हुए को अपने बच्चों और दूसरे पशुओं को नहीं सिखा पाते। यही कारण है कि बहुत–कुछ सीखने की क्षमता रहने के बाद भी उनमें संस्कृति का विकास नहीं हुआ है। मानव भाषा एवं प्रतीकों के माध्यम से बहुत ही आसानी से अपनी संस्कृति का विकास एवं विस्तार

करता है तथा एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में हस्तान्तरित भी करता है। इससे संस्कृति की निरन्तरता भी बनी रहती है।

iv. **संस्कृति मनुष्य द्वारा निर्मित है (Culture is Man-Made)**–संस्कृति का तात्पर्य उन सभी तत्वों से होता है, जिनका निर्माण स्वंय मनुष्य ने किया है। उदाहरण के तौर पर हमारा धर्म, विश्वास, ज्ञान, आचार, व्यवहार के तरीके एवं तरह–तरह के आवश्यकताओं के साधन अर्थात् कुर्सी, टेबल आदि का निर्माण मनुष्य द्वारा किया गया है। इस तरह यह सभी संस्कृति **हर्षकाविट्स** का कहना है कि "संस्कृति पर्यावरण का मानव–निर्मित भाग है।"

v. **संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है (Culture Satisfies Human Needs)**–संस्कृति में मानव आवश्यकता–पूर्ति करने का गुण होता है। संस्कृति की छोटी–से–छोटी इकाई भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति करती है या पूर्ति करने में मदद करती है। कभी–कभी संस्कृति की कोई इकाई बाहरी तौर पर निरर्थक या अप्रकार्य प्रतीत होती है, लेकिन सम्पूर्ण ढाँचे से उसका महत्वपूर्ण स्थान होता है।

मैलिनोस्की के विचार –प्रसिद्ध मानवशास्त्री मैलिनोस्की का कथन है कि संस्कृति के छोटे–से–छोटे तत्व का अस्तित्व उसके आवश्यकता पूर्ति करने के गुण पर निर्भर करता है। जब संस्कृति के किसी भी तत्व में आवश्यकतापूर्ति करने का गुण नहीं रह जाता तो उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। उदाहरण के तौर पर प्राचीनकाल में जो संस्कृति के तत्व थे वे समाप्त हो गए क्योंकि वे आवश्यकता पूति में असमर्थ रहे, इसमें सतीप्रथा को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार, व्यवस्था में कोई इकाई कभी–कभी बहुत छोटी प्रतीत होती है मगर व्यवस्था के लिए वह इकाई भी काफी महत्वपूर्ण होती है। इस प्रकार, संस्कृति का कोई भी तत्व अप्रकार्यात्मक नहीं होता है बल्कि किसी भी रूप में मानव की आवश्यकता की पूर्ति करती है।

vi. **प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है (Culture is Distinctive in every Society)**– प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति होती है। हम जानते हैं कि कोई भी समाज एक विशिष्ट भौगोलिक एवं प्राकृतिक वातावरण लिये होता है। इसी के अनुरूप सामाजिक वातावरण एवं संस्कृति का निर्माण होता है। उदाहरण के तौर पर पहाड़ों पर जीवन–यापन करने वाले लोगों का भौगोलिक पर्यावरण, मैदानी लोगों के भौगोलिक पर्यावरण से अलग होता है। इसी प्रकार, इन दोनों स्थानों में रहने वाले लोगों की आवश्यकताएं अलग–अलग होती है। जैसे–खाना, रहने–सहने का तरीका, नृत्य, गायन, धर्म आदि। अतः दोनों की संस्कृति भौगोलिक पर्यावरण के सापेक्ष में आवश्यकता के अनुरूप विकसित होती है।

vii. **संस्कृति में अनुकूलन का गुण होता है (Culture has Adoptive Quality)**–संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता होती है कि यह समय के साथ–साथ आवश्यकताओं के अनुरूप अनुकूलित हो जाती है। संस्कृति समाज के वातावरण एवं परिस्थिति के अनुसार होती है। जब वातावरण एवं परिस्थिति में परिवर्तन होता है तो संस्कृति भी उसके अनुसार अपने का ढ़ालती है। यदि यह विशेषता एवं गुण न रहे तो संस्कृति का अस्तित्व ही नहीं रह जायेगा। संस्कृति में समय एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होने से उसकी उपयोगिता समाप्त नहीं हो पाती।

viii. **संस्कृति अधि–सावयवी है (Culture is Super-organic)**– मानव ने अपनी मानसिक एवं शारीरिक क्षमताओं के प्रयोग द्वारा संस्कृति का निर्माण किया, जो सावयव से ऊपर है। संस्कृति में रहकर व्यक्ति का विकास होता है और फिर मानव संस्कृति का निर्माण करता है जो मानव से ऊपर हो जाता है। मानव की समस्त क्षमताओं का आधार सावयवी होता है, किन्तु इस

संस्कृति को अधि–सावयवी से ऊपर हो जाती है। इसी अर्थ में संस्कृति को अधि–सावयवी(Super-Organic) कहा गया है।

ix. **संस्कृति अधि–वैयक्तिक है (Culture is Super-individual)**–संस्कृति की रचना और निरन्तरता दोनों ही किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है। इसलिए यह अधि–वैयक्तिक(Super-individual) है। संस्कृति का निर्माण किसी व्यक्ति–विशेष द्वारा नहीं किया गया है बल्कि संस्कृति का निर्माण सम्पूर्ण समूह द्वारा होता है। प्रत्येक सांस्कृतिक इकाई का अपना एक इतिहास होता है, जो किसी एक व्यक्ति से परे होता है। संस्कृति सामाजिक अविष्कार का फल है, किन्तु यह अविष्कार किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं है।

x. **संस्कृति में संतुलन तथा संगठन होता है (Culture has The Integrative)**–संस्कृति के अन्तर्गत अनेक तत्व एवं खण्ड होते हैं किन्तु ये आपस में पृथक नहीं होते, बल्कि इनमें अन्तः सम्बन्ध तथा अन्तः निर्भरता पायी जाती है। संस्कृति की प्रत्येक इकाई एक–दूसरे से अनग हटकर कार्य नहीं करती, बल्कि सब सम्मिलित रूप से कार्य करती है। इस प्रकार के संतुलन एवं संगठन से सांस्कृतिक ढ़ाँचे का निर्माण होता है।

xi. **संस्कृति समूह का आदर्श होती है (Culture is Ideal for The Group)**–प्रत्येक समूह की संस्कृति उस समूह के लिए आदर्श होती है। इस तरह की धारण सभी समाज में पायी जाती है। सभी लोग अपनी ही संस्कृति को आदर्श समझते हैं तथा अन्य संस्कृति की तुलना में अपनी संस्कृति को उच्च मानते हैं। संस्कृति इसलिए भी आदर्श होती है कि इसका व्यवहार–प्रतिमान किसी व्यक्ति–विशेष का न होकर सारे समूह का व्यवहार होता है।

5. <u>वस्तुनिष्ठ प्रश्न–</u>

1.किस विद्वान का कथन है "संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और अन्य सभी क्षमताओं तथा आदतों का समावेश होता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।"

(क) हर्षकोविट्स **(ख) बोगार्डस**
(ग) टायलर **(घ) बीयरस्टेड**

2."संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है।" यह किसका कथन है?

(क) मैकाइवर **(ख) हर्षकोविट्स**
(ग) टायलर **(घ) क्रोबर**

3.इनमें से कौन संस्कृति की विशेषता नहीं हैं?

(क) सीखा हुआ व्यवहार है **(ख)हस्तान्तरित होती है**
(ग) अनुकूल की क्षमता **(घ) परिवर्तन नहीं होती है।**

<u>सही कथनों का चयन करें–</u>

(क) संस्कृति में अनुकूलन का गुण नहीं होता है।
(ख) संस्कृति में हस्तान्तरण का गुण होता है।
(ग) संस्कृति सामाजिक होती है।
(घ) संस्कृति में परिवर्तन नहीं होता है।
(ड़) संस्कृति में मानव आवश्यकता पूर्ति का गुण होता है।

(च) संस्कृति जन्मजात गुण है।
(छ) प्रत्येक समाज की सामान्य संस्कृति होती है।

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें–

1.सभ्यता को..... जा सकता है।
2.सभ्यता बिना .....के आगे बढ़ती है।
3.सभ्यता का सम्बन्ध .....चीजों से होता है।
4.सभ्यता में निरन्तर .....होती रहती है।
5.सभ्यता बाध्यतामूलक न होकर .....होती है।

8.4 संस्कृति के प्रकार

ऑगर्बन एवं निमकॉफ ने संस्कृति के दो प्रकारों की चर्चा की है– भौतिक संस्कृति एवं अभौतिक संस्कृति।

1.भौतिक संस्कृति– भौतिक संस्कृति के अर्न्तगत उन सभी भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं का समावेश होता है जिनका निर्माण मनुष्य के लिए किया है, तथा जिन्हें हम देख एवं छू सकते हैं। भौतिक संस्कृति की संख्या आदिम समाज की तुलना में आधुनिक समाज में अधिक होती है, **प्रो.बीयरस्टीड** ने भौतिक संस्कृति के समस्त तत्वों को मुख्य 13 वर्गों में विभाजित करके इसे और स्पष्ट करने का प्रयास किया है–

i.मशीनें ii.उपकरण iii.बर्तन iv.इमारतें v.सड़कें vi. पुल vii.शिल्प वस्तुऐं viii. कलात्मक वस्तुऐं ix.वस्त्र x.वाहन xi.फर्नीचर xii.खाद्य पदार्थ xiii.औषधियां आदि।

भौतिक संस्कृति की विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. भौतिक संस्कृति मूर्त होती है।
2. इसमें निरन्तर वृद्धि होती रहती है।
3. भौतिक संस्कृति मापी जा सकती है।
4. भौतिक संस्कृति में परिवर्तन शीघ्र होता है।
5. इसकी उपयोगिता एवं लाभ का मूल्यांकन किया जा सकता है।
6. भौतिक संस्कृति में बिना परिवर्तन किये इसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने तथा उसे अपनाने में उसके स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए मोटर गाड़ी, पोशाक तथा कपड़ा इत्यादि।

अभौतिक संस्कृति– अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत उन सभी अभौतिक एवं अमूर्त वस्तुओं का समावेश होता है, जिनके कोई माप–तौल, आकार एवं रंग आदि नहीं होते। अभौतिक संस्कृति समाजीकरण एवं सीखने की प्रक्रिया द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होती रहती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अभौतिक संस्कृति का तात्पर्य संस्कृति के उस पक्ष में होता है, जिसका कोई मूर्त रूप नहीं होता, बल्कि विचारों एवं विश्वासों कि माध्यम से मानव व्यवहार को नियन्त्रित, नियमित एवं प्रभावी करता है। **प्रो. बीयरस्टीड** ने अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत विचारों और आदर्श नियमों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताया और कहा कि विचार अभौतिक संस्कृति के प्रमुख अंग है। विचारों की कोई निश्चित संख्या हो सकती है, फिर भी **प्रो. बीयरस्टीड** ने विचारों के कुछ समूह प्रस्तुत किये हैं–

i.वैज्ञानिक सत्य ii.धार्मिक विश्वास iii.पौराणिक कथाएँ iv.उपाख्यान v.साहित्य vi. अन्ध–विश्वास vii.सूत्र viii.लोकोक्तियाँ आदि।

ये सभी विचार अभौतिक संस्कृति के अंग होते हैं। आदर्श नियमों का सम्बन्ध विचार करने से नहीं, बल्कि व्यवहार करने के तौर–तरीकों से होता है। अर्थात् व्यवहार के उन नियमों या तरीकों को जिन्हें संस्कृति अपना आदर्श मानती है, आदर्श नियम कहा जाता है। प्रो॰ बीयरस्टीड ने सभी आदर्श नियमों को 14 भागों में बाँटा है–

1.कानून 2.अधिनियम 3.नियम 4.नियमन 5.प्रथाएँ 6.जनरीतियाँ 7. लोकाचार 8.निषेध 9.फैशन 10. संस्कार 11.कर्म–काण्ड 12.अनुष्ठान 13.परिपाटी 14.सदाचार।

अभौतिक संस्कृति की विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है।
2. इसकी माप करना कठिन है।
3. अभौतिक संस्कृति जटिल होती है।
4. इसकी उपयोगिता एवं लाभ का मूल्यांकन करना कठिन कार्य है।
5. अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन बहुत ही धीमी गति से होता है।
6. अभौतिक संस्कृति को जब एक स्थान से दूसरे स्थान में ग्रहण किया जाता है, तब उसके रूप में थोड़ा–न–थोड़ा परिवर्तन अवश्य होता है।
7. अभौतिक संस्कृति मनुष्य के आध्यात्मिक एवं आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित होती है।

8.5 भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अन्तर

भौतिक एवं अभौतिक पक्षों के योग से ही संस्कृति की निर्माण होता है किन्तु दोनों में कुछ अन्तर हैं, जो इस प्रकार है–

1. भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहा जाता है, जबकि अभौतिक संस्कृति को केवल संस्कृति कहा जाता है।

2. भौतिक संस्कृति मूर्त होती है, जबकि अभौतिक अमूर्त। जैसे–रेलगाड़ी तथा वैज्ञानिक का विचार एवं दिमाग, जिससे रेलगाड़ी का आविष्कार हुआ। यहाँ रेलगाड़ी भौतिक संस्कृति है, जबकि वैज्ञानिक का विचार अभौतिक संस्कृति है।

3. अभौतिक की तुलना में भौतिक संस्कृति को ग्रहण करना आसान है। उसे कहीं भी किसी स्थान पर स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु अभौतिक संस्कृति को ग्रहण करना आसान नहीं है। दूसरे स्थान पर स्वीकार करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बहुत आससनी से हम दूसरे स्थानों के आदर्शों एवं मूल्यों को स्वीकार नहीं कर पाते हैं।

4. भौतिक संस्कृति की तुलना में अभौतिक संस्कृति में धीमी गति से परिवर्तन होता है। जैसे–मोटर, घड़ी आदि बदल जाते हैं, किन्तु मनुष्य के विश्वास जल्द नहीं बदलते।

5. भौतिक संस्कृति चूँकि मूर्त होती है, अतः उसकी माप करना सरल है, किन्तु अभौतिक संस्कृति अमूर्त रहने के कारण उसकी माप में कठिनाइयाँ आती हैं। इसकी माप तौल करना सम्भव नहीं होता।

6. भौतिक संस्कृति में वृद्धि तीव्र गति से होती है, जबकि अभौतिक संस्कृति में वृद्धि बहुत ही मन्द गति से होती है। उदाहरण के लिए, समाज में नई–नई खोज एवं आविष्कार से तरह–तरह की वस्तु सामने आती है, किन्तु व्यक्ति का विचार वर्षों पुराना ही पाया जाता है।

7. अभौतिक संस्कृति की वृद्धि एवं संचय को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। किन्तु भौतिक संस्कृति में वृद्धि एवं संचय होता है और उसे मापा भी जा सकता है।
8. भौतिक संस्कृति के लाभ एवं उपयोगिता को माप कर बताया जा सकता है, किन्तु अभौतिक संस्कृति की उपयोगिता एवं लाभ को मूल्यांकित नहीं किया जा सकता। इसे मात्र अनुभव किया जा सकता है।
9. भौतिक संस्कृति मानव के बाह्यय एवं भौतिक जीवन से सम्बन्धित होती है, जबकि अभौतिक संस्कृति मानव के आध्यात्मिक एवं आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित होती है।
10.भौतिक संस्कृति सरल होती है, जबकि अभौतिक संस्कृति का स्वरूप जटिल होता है।

8.6 संस्कृति की संरचना (The Structure of Culture)

1.सांस्कृतिक तत्व (Culture Traits)
2.सांस्कृतिक संकुल (Culture Complex)
3.सांस्कृतिक प्रतिमान (Culture Pattern or Culture Configuration)

1.सांस्कृतिक तत्व–सांस्कृतिक तत्व संस्कृति की लघुतम इकाईयाँ अथवा अकेले तत्व होते हैं। इन इकाइयों को मिलाकर संस्कृति का निर्माण होता है। इन इकाइयों को मिलाकर संस्कृति का निर्माण होता है। **हर्षकोविट्स** ने सांस्कृतिक तत्व को एक संस्कृति–विशेष में सबसे छोटी पहचानी जा सकने वाली इकाई कहा है। **क्रोबर** ने इसे "संस्कृति का न्यून्तम परिभाष्य" तत्व कहा। उदाहरण के लिए– हाथ मिलाना, चरण स्पर्श करना, टोप उतारना, गालों का चुम्बन लेना, स्त्रियों को आवास–स्थान प्रदान करना, झंड़े की सलामी, शोक के समय श्वेत साड़ी पहनना, शाकाहारी भोजन खाना, नंगे पॉव चलना, मूर्तियों पर जल छिड़कना।

इसकी तीन प्रमुख विशेषताएँ होती हैं–

i. प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व का उसकी उत्पत्ति विषयक इतिहास होता है, चाहे वह इतिहास छोटा हो या बड़ा।
ii. सांस्कृतिक तत्व स्थिर नहीं होता। गतिशीलता उसकी विशेषता है।
iii. सांस्कृतिक तत्वों में संयुक्तीकरण की प्रकृति होती है। वे फूलों के गुलदस्ते की भाँति घुल–मिलकर रहते है।

2.सांस्कृति संकुल–सांस्कृतिक तत्वों से मिलकर बनते है। जब कुछ या अनेक तत्व मिलकर मानव अवश्यकता की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार, मूर्ति के सम्मुख नतमस्तक होना, उसपर पवित्र जल छिड़कना, उसके मुँह में कुछ भोजन रखना, हाथ जोड़ना, पुजारी से प्रसाद लेना तथा आरती गाना आदि सभी तत्व मिलकर धार्मिक सांस्कृतिक संकुल का निर्माण करते हैं।
3.सांस्कृतिक प्रतिमान–जब सांस्कृतिक तत्व एवं संकुल मिलकर प्रकार्यात्मक भूमिकाओं में परस्पर संबंधित हो जाते हैं तो उनसे संस्कृति प्रतिमान का जन्म होता है। संस्कृति–प्रतिमान के अध्ययन से किसी संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ–गाँधीवाद, अध्यात्मवाद, जाति–व्यवस्था, संयुक्त परिवार, ग्रामीणउसद भारतीय संस्कृति के संस्कृति संकुज हैं जो भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का परिचय देते हैं।
Clark Wissler ने 9 आधार–मूलक सांस्कृतिक तत्वों का उल्लेख किया है जो संस्कृति–प्रतिमान को जन्म देते हैं–
1. वाणी एवं भाषा

2. भौतिक तत्व– i.भोजन की आादतें ii.निवास iii.यातायात iv.बर्तन आदि v.शस्त्र vi. व्यवसाय एवं उद्योग
3. कला
4. पुराण विद्या एवं वैज्ञानिक ज्ञान
5. धार्मिक क्रियाएँ
6. परिवारिक एवं सामाजिक प्रजातियाँ
7. सम्पत्ति शासन
8. युद्ध।

8.7 संस्कृति के प्रकार्य (Function of Culture)

1. व्यक्ति के लिए
2. समूह के लिए

1.व्यक्ति के लिए–

i. संस्कृति मनुष्य को मानव बनाती है।
ii. जटिल स्थितियों का समाधान।
iii. मानव आवश्यकताओं की पूर्ति
iv. व्यक्तित्व निर्माण
v. मानव को मूल्य एवं आदर्श प्रदान करती है।
vi. मानव की आदतों का निर्धारण करती है।
vii. नैतिकता का निर्धारण करती है।
viii. व्यवहारों में एकरूपता लाती है।
ix. अनुभव एवं कार्यकुशलता बढ़ाती है।
x. व्यक्ति की सुरक्षा प्रदान करती है।
xi. समस्याओं का समाधान करती है।
xii. समाजीकरण में योग देती है।
xiii. प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण करती है।
xiv. सामाजिक नियन्त्रण में सहायक।

2.समूह के लिए–

i. सामाजिक सम्बन्धों को स्थिर रखती है।
ii. व्यक्ति के दृष्टिकोण को विस्तृत करती है।
iii. नई आवश्यकताओं को उत्पन्न करती है।

8.8 सांस्कृतिक विलम्बन (Cultural Lag)

इस अवधारणा की चर्चा डब्ल्यू.एफ.ऑगबर्न (W.F.Ogburn) ने अपनी पुस्तक सोशल चेन्ज (**Social Change**) में 1925 में की। ऑगबर्न के अनुसार संस्कृति को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है–

1. भौतिक एवं
2. अभौतिक

संस्कृति के ये दोनों भागों समान गति से परिवर्तित नहीं होते हैं। किन्हीं कारणों से एक भाग आगे बढ़ जाता है। दूसरा पीछे छूट जाता है। फलस्वरूप सांस्कृतिक विलम्बना की स्थिति पैदा होती है। इससे समाज में व्याधियाँ उत्पन्न होती है। जैसे ही पीछे छूटे हुए भाग को आगे लाया जाता है तो समाज में परिवर्तन होता है। इस तरह ऑगबर्न के अनुसार सांस्कृतिक विलम्बन समाजशास्त्रियों के हाथ में एक मंत्र है जिसके द्वारा समाज परिवर्तित होता है।

इन्होंने जितने भी उदाहरण दिए वह सब यही स्पष्ट करते हैं कि भौतिक संस्कृति आगे बढ़ जाती है और अभौतिक पीछे रह जाती है। इसपर इनकी काफी आलोचना हुई। इन आलोचनाओं को स्वीकार करते हुए 1957 में अपनी पुस्तक ऑन सोशल एण्ड कल्चरल चेन्ज (**On Social and Cultural Change**) में सांस्कृतिक विलम्बन को पूर्ण परिभाषित करते हुए इसे एक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया। इनके अनुसार सांस्कृतिक विलम्बन के लिए निम्नलिखित परिस्थितियों का होना जरूरी है–

i. कोई दो चर चाहे दोनो भौतिक या एक भौतिक, एक अभौतिक।
ii. दोनों चरों के बीच में सह–सम्बन्ध होना आवश्यक है।
iii. दोनों चरों के बीच एक खास समय में अनुकूलन आवश्यक है।
iv. किसी कारणवश एक आगे बढ़ जाए एक पीछे। फलस्वरूप दोनों में विलम्बन हो जाए।

सांस्कृतिक विलम्बन उत्पन्न होने के चार कारक हैं–

1. रूढ़िवादिता
2. अतीत के प्रति निष्ठा
3. नए विचारों के प्रति भय
4. निहित स्वार्थ

इसकी आलोचना करते हुए **मैकाइवर एवं पेज** ने कहा है कि **Cultural Lag** की जगह **Technological Lag** का प्रयोग होना चाहिए।

आज के समाजशास्त्र में Culture Lag महत्वहीन है क्योंकि यह केवल दो चरों की बात करता है जबकि आज किसी भी विज्ञान में Multiple of factors की बात होती है।

Culture Change– प्रश्न उठता है कि संस्कृति में परिवर्तन क्यों होता है। **समनर** ने इसके तीन कारण बताये हैं–

1. संस्कृति का शत–प्रतिशत हस्तान्तरण असम्भव है।
2. बाह्य दशाओं में परिवर्तन
3. अनुकूलन का प्रयत्न

8.9 सभ्यता और संस्कृति में अन्तर

सभ्यता और संस्कृति शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में प्रायः लोग करते हैं, किन्तु सभ्यता और संस्कृति में अन्तर है। सभ्यता साधन है जबकि संस्कृति साध्य। सभ्यता और संस्कृति में कुछ सामान्य बातें भी पाई जाती हैं। सभ्यता और संस्कृति में सम्बन्ध पाया जाता है। **मैकाइवर एवं पेज** ने सभ्यता और संस्कृति में अन्तर किया है। इनके द्वारा दिये गये अन्तर इस प्रकार हैं–

1. सभ्यता की माप सम्भव है, लेकिन संस्कृति की नहीं– सभ्यता को मापा जा सकता है। चूँकि इसका सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं की उपयोगिता से होता है। इसलिए उपयोगिता के आधार पर इसे अच्छा–बुरा, ऊँचा–नीचा, उपयोगी–अनुपयोगी बताया जा सकता है। संस्कृति के साथ ऐसी बात नहीं है। संस्कृति की माप सम्भव नहीं है। इसे तुलनात्मक रूप से अच्छा–बुरा, ऊँचा–नीचा, उपयोगी–अनुपयोगी नहीं बताया जा सकता है। हर समूह के लोग अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ बताते हैं। हर संस्कृति समाज के काल एवं परिस्थितियों की उपज होती है। इसलिए इसके मूल्यांकन का प्रश्न नहीं उठता। उदाहरण स्वरूप हम नई प्रविधियों को देखें। आज जो वर्तमान है और वह पुरानी चीजों से उत्तम है तथा आने वाले समय में उससे भी उन्नत प्रविधि हमारे सामने मौजूद होगी। इस प्रकार की तुलना हम संस्कृति के साथ नहीं कर सकते। दो स्थानों और दो युगों की संस्कृति को एक–दूसरे से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

2. सभ्यता सदैव आगे बढ़ती है, लेकिन संस्कृति नहीं– सभ्यता में निरन्तर प्रगति होती रहती है। यह कभी भी पीछे की ओर नहीं जाती। **मैकाइवर** ने बताया कि सभ्यता सिर्फ आगे की ओर नहीं बढ़ती बल्कि इसकी प्रगति एक ही दिशा में होती है। आज हर समय नयी–नयी खोज एवं आविष्कार होते रहते हैं जिसके कारण हमें पुरानी चीजों की तुलना में उन्नत चीजें उपलब्ध होती रहती हैं। फलस्वरूप सभ्यता में प्रगति होती रहती है।

3. सभ्यता बिना प्रयास के आगे बढ़ती है, संस्कृति नहीं– सभ्यता के विकास एवं प्रगति के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, यह बहुत ही सरलता एवं सजगता से आगे बढ़ती जाती है। जब किसी भी नई वस्तु का आविष्कार होता है तब उस वस्तु का प्रयोग सभी लोग करते हैं। यह जरूरी नहीं है कि हम उसके सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखें या उसके आविष्कार में पूरा योगदान दें। अर्थात् इसके बिना भी इनका उपभोग किया जा सकता है। भौतिक वस्तुओं का उपयोग बिना मनोवृत्ति, रूचियों और विचारों में परिवर्तन के किया जाता है, किन्तु संस्कृति के साथ ऐसी बात नहीं है। संस्कृति के प्रसार के लिए मानसिकता में भी परिवर्तन की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति धर्म परिवर्तन करना चाहता है, तो उसके लिए उसे मानसिक रूप से तैयार होना पड़ता है, लेकिन किसी वस्तु के उपयोग के लिए विशेष सोचने की आवश्यकता नहीं होती।

4. सभ्यता बिना किसी परिवर्तन या हानि के ग्रहण की जा सकती है, किन्तु संस्कृति को नहीं– सभ्यता के तत्वों या वस्तुओं को ज्यों–का–त्यों अपनाया जा सकता है। उसमें किसी तरह की परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस एक वस्तु का जब आविष्कार होता है, तो उसे विभिन्न स्थानों के लोग ग्रहण करते हैं। भौतिक वस्तु में बिना किसी परिवर्तन लाये ही एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, तब ट्रैक्टर का आविष्कार हुआ तो हर गाँव में उसे ले जाया गया। इसके लिए उसमें किसी तरह के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी। किन्तु संस्कृति के साथ ऐसी बात नहीं है। संस्कृति के तत्वों को जब एक स्थान से दूसरे स्थान में ग्रहण किया जाता है तो उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन हो जाता है। उसके कुछ गुण गौण हो जाते हैं, तो कुछ गुण जुड़ जाते हैं। यही कारण है कि धर्म परिवर्तन

करने के बाद भी लोग उपने पुराने विश्वासों, विचारों एवं मनोवृत्तियों में बिल्कुल परिवर्तन नहीं ला पाते। पहले वाले धर्म का कुछ–न–कुछ प्रभाव रह जाता है।

5. सभ्यता बाह्य है, जबकि संस्कृति आन्तरिक– सभ्यता के अन्तर्गत भौतिक वस्तुऐं आती हैं। भौतिक वस्तुओं का सम्बन्ध बाह्य जीवन से, बाहरी सुख–सुविधाओं से होता है। उदाहरण के लिए, बिजली–पंखा, टेलीविजन, मोटरगाड़ी, इत्यादि। इन सारी चीजों से लोगों को बाहरी सुख–सुविधा प्राप्त होती है। किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक जीवन से होता है। जैसे –ज्ञान, विश्वास, धर्म, कला इत्यादि। इन सारी चीजों से व्यकित को मानसिक रूप से सन्तुष्टि प्राप्त होती है, इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सभ्यता बाह्य है, लेकिन संस्कृति आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित होती है।

6. सभ्यता मूर्त होती है, जबकि संस्कृति अमूर्त– सभ्यता का सम्बन्ध भौतिक चीजों से होता है। भौतिक वस्तुऐं मूर्त होती हैं। इन्हें देखा व स्पर्श किया जा सकता है। इससे प्रायः सभी व्यक्ति समान रूप से लाभ उठा सकते हैं, किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं से न होकर अभौतिक चीजों से होता है। इन्हें अनुभव किया जा सकता है, किन्तु इन्हें देखा एवं स्पर्श नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में संस्कृति अमूर्त होती है।

7. सभ्यता साधन है जबकि संस्कृति साध्य–सभ्यता एक साधन है जिसके द्वारा हम अपने लक्ष्यों व उद्देश्यों तक पहुँचते हैं। संस्कृति अपने आप में एक साध्य है। धर्म, कला, साहित्य, नैतिकता इत्यादि संस्कृति के तत्व हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए भौतिक वस्तुऐं जैसे–धार्मिक पुस्तकें, चित्रकला, संगीत, नृत्य–बाद्य इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार सभ्यता साधन है और संस्कृति साध्य।

8.10 संस्कृति एवं व्यक्तित्व (Culture And Personality)

संस्कृति एवं व्यक्तित्व में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। संस्कृति व्यक्तित्व को एक निश्चित दिशा प्रदान करती है। व्यक्तित्व के निर्माण में जिन कारकों का योगदान माना जाता है। उनमें संस्कृति का स्थान प्रमुख है। व्यक्तित्व के विकास में संस्कृति बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इन दोनों के सम्बन्धों को जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि संस्कृति एवं व्यक्तित्व क्या है? संस्कृति क्या है, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। अतः यहाँ उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्तित्व क्या है इसकी चर्चा नीचे की जा रही है–

व्यक्तित्व

साधारण बोल–चाल की भाषा में लोग व्यक्तित्व का मतलब बाहरी रंग–रूप तथा वेश–भूषा समझते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं। व्यक्तित्व मनुष्य का सिर्फ बाहरी गुण नहीं जो उसकी शारीरिक रचना से स्पष्ट होता है। पहले व्यक्तित्व का अध्ययन सिर्फ मनोविज्ञान में होता था, किन्तु अब मानवशास्त्र में भी यह चर्चा का विषय बन गया है। मानव शास्त्र के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन हुए हैं,जो वयक्तित्व के निर्माण में संस्कृति की भूमिका को महत्वपूर्ण दर्शाते हैं।

'व्यक्तित्व' शब्द अंग्रेजी के **'Personality'** का हिन्दी रूपान्तरण है, जो लैटिन के **'Persona'** शब्द से बना है। इसका अर्थ आकृति तथा नकाब होता है। नाटक आदि में लोग नकाब पहनकर विशेष भूमिका अदा करते हैं। भूमिका बदलने पर नकाब भी बदल लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भिन्न–भिन्न भूमिकाओं के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के नकाब होते हैं। जिस प्रकार की भूमिका अदा करनी होती है, उसी प्रकार के नकाब पहने जाते हैं। यहाँ यह

स्पष्ट करना आवश्यक है कि व्यक्तित्व का अर्थ सिर्फ चेहरा,रंग,कद तथा पोशाक नहीं है। इसके अन्तर्गत शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं का समावेश होता है।

विभिन्न विद्वानों ने व्यक्तित्व की परिभाषा अपने–अपने ढ़ंग से दी है,–
आलपोर्ट के अनुसार–"व्यक्तित्व, व्यक्ति के मनोदैहिक गुणों का गत्यात्मक संगठन है जो उसका पर्यावरण के साथ अनोखा सामंजस्य निर्धारित करता है।" उन्होंने अपनी परिभाषा के द्वारा यह स्पष्ट करना चाहा है कि व्यक्तित्व किसी व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक गुणों का परिवर्तनशील योग है, जो पर्यावरण के साथ उसके अनुकूलन को निर्धारित करता है। इसी के कारण व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में अलग–अलग ढ़ंग से व्यवहार करता है।

पार्क एवं बर्गेस के अनुसार,–"व्यक्तित्व एक व्यक्ति के व्यवहारों के उन पक्षों का योग है जो समुह में व्यक्ति की भूमिका निर्धारित करता है" आलपोर्ट की तरह ही पार्क एवं बर्गेस ने भी व्यक्तित्व को विभिन्न गुणों का योग बताया है। इन्हीं गुणों के द्वारा समूह में व्यक्तित्व के व्यवहार और भूमिका निर्धारित होते हैं।

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों से स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व के निर्माण में शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पक्षों का योगदान होता है। यही कारण है कि व्यक्ति एक समान संस्कृति का योगदान होता है। यही कारण है कि व्यक्ति एक समान संस्कृति का सदस्य होते हुए भी दूसरों से अलग व्यक्तित्व का विकास करता है।

8.10.1 व्यक्तित्व के आधार

व्यक्तित्व के निर्माण के तीन प्रमुख आधार होते हैं,–

1. शारीरिक पक्ष
2. समाज
3. संस्कृति

व्यक्तित्व के विकास में इन तीनों का हाथ होता है, अर्थात् इन्हीं की अन्तः क्रिया के फलस्वरूप व्यक्तित्व का विकास होता है।

शारीरिक आधार– इसके अन्तर्गत व्यक्ति की शारीरिक बनावट, आकार, रंग–रूप, कद, वजन आदि आते हैं। साधारण तौर पर व्यक्ति इन्हीं के आधार पर व्यक्तित्व की व्याख्या करता है। अर्थात् शारीरिक रंग–रूप को देखकर व्यक्ति को आकर्षण अथवा बड़े व्यक्तित्व का बताया जाता है। वंशानुक्रमणवादी व्यक्तित्व के निर्माण में इसी आधार को महत्वपूर्ण बताते हैं। इनके अनुसार व्यक्तित्व के निर्माण में वंशानुक्रमण, शरीर रचना, बुद्धि एवं प्रतिभा, स्नायुमण्डल तथा अन्तः स्त्रावी ग्रन्थियों का योगदान होता है।

सामाजिक आधार– इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण सामाजिक पर्यावरण आता है। समाज के अभाव में व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। यदि किसी व्यक्ति की प्राणिशास्त्रीय रचना बहुत ही अच्छी है, किन्तु वह सामाजिक सम्पर्क से वंचित रहा है, वब ऐसी स्थिति में उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य सामाजिक सम्पर्क आवश्यक है। सामाजिक सम्पर्क से ही संस्कृति का प्रभाव भी सम्भव होता है। बच्चा जब इस पृथ्वी पर आता है, तब वह सिर्फ

जैवकीय प्राणी होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करता है और तब वह जैवकीय प्रसणी से सामाजिक प्राणी में बदल जाता है।

सांस्कृतिक आधार– मानवशास्त्रियों ने व्यक्तित्व के निर्माण में सांस्कृतिक आधार को महत्वपूर्ण बताया है। उनके अनुसार बहुत सी जैवकीय क्षमताओं का निर्धारण संस्कृति से होता है। मानवशास्त्रियों ने संस्कृतियों की भिन्नता के आधार पर विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व के गठन की चर्चा की है। इन विद्वानों में **मीड, लिटन, कार्डिनर, डूबाइस** आदि के नाम प्रमुख हैं। ये विद्वान Culture Personality School के नाम से जाने जाते हैं।

संस्कृति और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए **जॉन गिलिन** ने बताया कि जन्म के बाद मनुष्य एक मानव निर्मित पर्यावरण में प्रवेश करता है, जिसका प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है। संस्कृति मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ नियमों तथा तरीकों का निर्धारण करती है। इन्हें समाज के अधिकांश लोग मानते हैं। संस्कृति के अन्तर्गत जिन प्रथाओं, परम्पराओं, जनरीतियों, रूढ़ियों, धर्म, भाषा, कला आदि का समावेश होता है, वे सामाजिक एवं सामूहिक जीवन विधि को व्यक्त करते हैं। उचित व अनुचित व्यवहार के लिए संस्कृति पुरस्कार तथा दण्ड का भी प्रयोग करती है।

रूथ बेनेडिक्ट ने अपना विचार प्रकट करते हुए कहा कि, बच्चा जिन प्रथाओं के बीच पैदा होता है, आरम्भ से ही उसके अनुरूप उसके अनुभव एवं व्यवहार होने लगते हैं। आगे उसने यह भी बताया कि संस्कृति व्यक्ति को कच्चा माल प्रदान करता है, जिससे वह अपने जीवन का निर्माण करता है। यदि कच्चा माल ही अपर्याप्त हो, तो व्यक्ति का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता है। यदि कच्चा माल पर्याप्त होता है तो व्यक्ति को उसका सदुपयोग करने का अवसर मिल जाता है।

क्लूखौन और मूरे के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति कुछ अंशों में 1. दूसरे सब लोगों की तरह होता है। 2.दूसरे कुछ लोगों की तरह होता है और 3.दूसरे किसी भी मनुष्य की तरह नहीं होता।
पहला– प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण से सभी मानव की शारीरिक विशेषताएँ समान होती हैं जैसे आँख, नाक, कान, हाथ, पैर इत्यादि। अतः प्रत्येक मनुष्य कुछ–न–कुछ अंशों में दूसरे सभी लोगों के समान होता है।
दूसरा– प्रत्येक समाज में कुछ सामान्य व्यवहार प्रतिमान होते हैं। जिन्हें व्यक्ति अपनी पसन्द से अपनाता है। इस प्रकार प्रत्येक दूसरे कुछ लोगों की तरह होता है। अर्थात् समान व्यवहार व कार्य के आधार पर कुछ लोगों में समानता पायी जाती है।
तीसरा– प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशिष्ट गुण होते हैं, जो किसी दूसरे मनुष्य की तरह नहीं होते। यही कारण है कि मानव व्यक्तित्व में भिन्नता पाई जाती है। सांस्कृति पर्यावरण में भिन्नता के कारण दो विभिन्न संस्कृतियों के व्यक्तियों के सामान्य गुण में समानता नहीं पाई जाती।

8.11 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके हैं कि संस्कृति मानव का सीखा हुआ व्यवहार है। कि न कि जन्मजात। संस्कृति को दो भागों में बाँटा गया है– भौतिक संस्कृति एवं अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति ही सभ्यता कही जाती है। साथ ही सभ्यता एवं संस्कृति में अन्तर किन–किन आधारों पर हैं। संस्कृति एवं व्यक्तित्व में क्या संबंध है तथा किस प्रकार संस्कृति व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। संस्कृति का महत्व एवं नियामक को भी जान चुके हैं।

संस्कृति समूह के साथ–साथ व्यक्ति के लिए प्रकार्यात्मक होती है। संस्कृति के अभाव समाजीकरण मुमकिन नहीं है। संस्कृति ही सामाजिक नियंत्रण एवं परिवर्तन दोनों को निर्धारित करती है।

8.12 शब्दावली

सांस्कृतिक विलम्बन (Cultural Lag)– संस्कृति का अभौतिक पक्ष, भौतिक पक्ष की तुलना में पिछड़ जाता है या अभौतिक, भौतिक संस्कृति से अपना अनुकूलन नहीं कर पाती है जिससे समाज में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यही स्थिति सामाजिक परिवर्तन का कारण बनता है। इसे ही सांस्कृतिक विलम्बन या पिछड़न कहा जाता है।

अधि–वैयक्तिक (Super-individual)– इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति से ऊपर अर्थात् यह संस्कृति का गुण है कि वह किसी भी व्यक्ति की उपज नहीं है बल्कि वह समाज की उपज है और व्यक्ति से ऊपर है।

अधि–सावयवी (Super-organic)– इसका तात्पर्य है कि किसी भी सावयव से ऊपर अर्थात् संस्कृति किसी भी सावयव के अधीन नहीं है। बल्कि समूह में इसका निर्माण होता है परन्तु यह सावयव के नियंत्रण में नहीं होता है।

8.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1–ग, 2–ख, 3–घ

सही कथन

ख, ग, ड़।

रिक्त स्थानों की पूर्ति

1–मापा

2–प्रमाण

3–भौतिक

4–प्रगति

5–वैकल्पिक

8.14 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. E. B. Tylpr : Primitive Culture, P-1
2. Herskovits : Man and His Works, P-17
3. Bierstedt : The Socal Order, P-123
4. Green : Sociology, P-83
5. MacIver and Page : Society, P-498
6. Dr. Dharmashila Prasad : Sociology Introduction, P-169-178

8.15 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

(1)Parimal B. Kar, Society, A Study of Social Interaction, Jawahar Publisher (1994) — P 62-70

8.16 निबंधात्मक प्रश्न

i. संस्कृति क्या है? यह सभ्यता से किस प्रकार अलग है?

ii. संस्कृति की विशेषता बताते हुए भौतिक संस्कृति एवं अभौतिक संस्कृति में अन्तर स्थापित करें।

iii. संस्कृति तथा व्यक्तित्व के संबंधों का वर्णन करें।

iv. संस्कृति और सभ्यता में परस्पर संबंधों का वर्णन करें।